वाद्य यंत्र

भारत-देश और लोग

वाद्य यंत्र

बी. चैतन्य देव

अनुवाद

अलका पाठक

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-0652-9

प्रथम संस्करण 1993 (शक 1915)

Musical Instruments (*Hindi*)

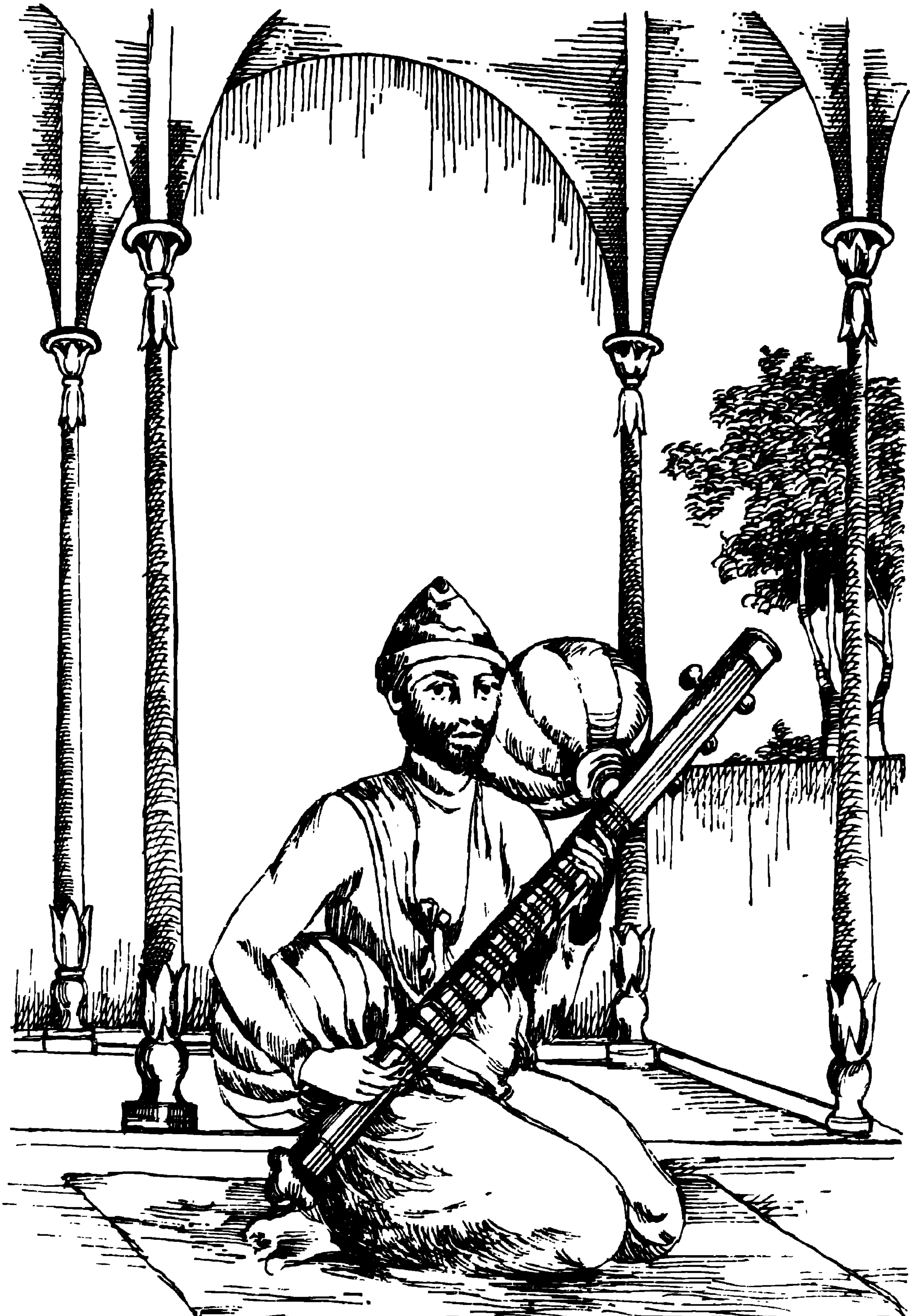
रु. 30.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित।

कुक्की, **डिल्ली** तथा **बबली**

को सस्नेह

विषय-सूची



वीणा (रुद्र वीणा) समकालीन वीणा-वादक जीवन खान का चित्र,
18 वीं शताब्दी (सौजन्य : गोविंद विद्यार्थी)

आमुख

यों तो हमारे वाद्य यंत्रों पर विद्वतापूर्ण तथा विशिष्ट ग्रंथ उपलब्ध हैं, किंतु सामान्य अथवा अविशिष्ट पाठकों के लिए लिखी गयी पुस्तकें अधिक नहीं हैं। वाद्यशास्त्र के किसी अंगविशेष, जैसे मूर्तियों से प्राप्त वाद्य यंत्र, लोक वाद्य, वाद्य यंत्रों की सूची आदि पर पुस्तकें इस क्षेत्र में गहन अध्ययन करने वाले शोधकर्ताओं के लिए अत्यंत सूचनावर्द्धक हैं। किंतु प्रस्तुत पुस्तक में व्यापक सामग्री को गूंथ कर उसे सहज और सरल शब्दों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

दुर्भाग्य से कई लोगों की आदत है कि वे सितार, तबला और वीणा जैसे शास्त्रीय अभिजात्य वर्ग के वाद्य यंत्रों के इतिहास तक ही अपना अध्ययन सीमित रखते हैं, वह भी केवल ग्रंथबद्ध इतिहास तक। इस प्रकार आदिवासियों और लोक संगीत के वाद्य यंत्रों का विशाल क्षेत्र प्रायः विस्मृत ही रह जाता है जबकि इन्हीं वाद्य यंत्रों से हमारे संगीत सभाओं के वाद्य यंत्र विकसित हुए हैं। लोक संगीत बनाम शास्त्रीय संगीत, हिंदुस्तानी संगीत बनाम कर्नाटक संगीत जैसे अलगावपूर्ण और संकीर्ण दृष्टिकोण से समस्त ज्ञान जगत ही प्रदूषित हो जाता है। किंतु सदा सर्वदा के लिए समाज के किसी भी वर्ण को अलग-थलग नहीं किया जा सकता। संचार के माध्यमों की प्रकृति के अनुरूप प्रत्येक संस्कृति अन्य संस्कृतियों से आदान-प्रदान करती है और इस प्रकार निरंतर गतिशील रहती है। अतः हमारे वाद्य यंत्रों के विभिन्न संस्कृतियों से मिश्रण का अध्ययन बड़ा रोचक तथा लाभप्रद रहेगा। इसके अलावा वाद्य यंत्र प्रायः लोगों के पौराणिक आख्यान, जातिगत चिन्ह अथवा वर्जित कर्मों से जुड़े होते हैं। अतः वाद्य यंत्रों के जरिये उनकी जीवन-शैली के बारे में बहुत कुछ जाना जा सकता है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर, इस परिचयात्मक अध्ययन में प्रयास किया गया है कि वाद्य यंत्र को पृथक और वियुक्त तौर पर न देखा जाये बल्कि उसे एक विशद सामाजिक-संगीतात्मक गतिविद्या के अंग के तौर पर लिया जाये, जबकि वाद्य यंत्रों के ढांचे का वर्णन तो इसमें किया ही गया है। अधिक तकनीकी अध्ययन में रुचि रखने वाले पाठक लेखक की पुस्तक 'म्यूजिकल इंस्ट्रूमेंट्स ऑफ इंडिया : देअर हिस्टरी एंड एवोल्यूशन' तथा अंत में दी गयी संदर्भ-ग्रंथ सूची की

पुस्तकें पढ़ सकते हैं। मूल पाठ में कोष्ठक के अंदर दी गयी संख्या चित्रों का संदर्भ देती है।

आशा है, पुस्तक का विषय पाठकों को भी वैसा ही मनमोहक लगेगा जैसा इस लेखक को।

—बी. चैतन्य देव

भूमिका

जब हम विचित्र वीणा या रुद्र वीणा का कार्यक्रम सुनते हैं तो क्या हमारे मस्तिष्क में कभी यह भी आता है कि इन जटिल और प्राचीन वाद्यों का मूल स्त्रोत आंध्र के **रोंज़ा गोंतम** या असम के **गिंटांग** नामक ऐसे नगण्य समझे जाने वाले तंत्र-वाद्यों में संभव है, जो बांस के छोटे टुकड़े से बने होते हैं तथा जिनके तार उसी बांस की छाल को थोड़ा ऊपर की ओर उभार कर बना लिए जाते हैं तथा उन पर लकड़ी की छोटी सी छड़ी से आघात करके स्वर पैदा किया जाता है ? ठीक इसी तरह जब तबला वादन का कोई उत्कृष्ट कार्यक्रम चल रहा होता है तो कदाचित् इस वाद्य को भी हम प्रायः किसी खाना पकाने वाले ऐसे बर्तन से संबद्ध करके नहीं देखते, जिससे शायद इसे बनाने का विचार पैदा हुआ होगा। बहुत संभव है कि वायलिन का गज भी एक छड़ी को दूसरी छड़ी पर रगड़कर आग जलाने वाली सामान्य जीवन की क्रिया का ही विकसित रूप हो।

संगीत और संगीत-वाद्य अब इतने परिष्कृत और विशिष्टीकृत हो चुके हैं कि जीवन के सामान्य कार्यकलापों में उनकी जड़ें खोजने के बजाए हम प्रायः बिना प्रमाण के उन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन, अगर सामाजिक विकास के गहरे संबंधों और वाद्यों से संगीत के नजदीकी रिश्तों को समझना है तो इस पर हमें कुछ अधिक चिंतन करना होगा और इस क्षेत्र में जांच शुरू करते ही हम पाते हैं कि संगीत और संगीत-वाद्य, दोनों का आरंभ मानव की गैर-संगीतात्मक गतिविधियों में छिपा पड़ा है।

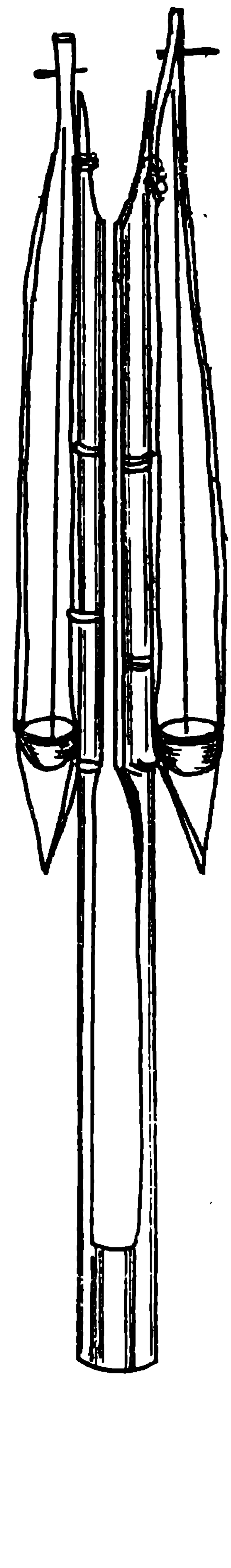
पाठकों ने संभवतः भारत के पूर्वी क्षेत्रों के नागाओं अथवा तमिलनाडु में नीलगिरी के तोड़ाओं का संगीत सुना होगा। इन लोगों के नृत्य में एक विशेष गति से पैरों को घसीटा जाता है जिसके साथ शिकार के शोरगुल जैसा चीत्कार और कर्कश रव चलता रहता है। संपूर्ण प्रस्तुतीकरण में लय-ताल और स्वरावली का अद्भुत भाव समाया रहता है। अगर आप इन ध्वनियों की तुलना राग और ताल की उच्च जटिलता से करें तो हो सकता है ये 'संगीतात्मक' न लगें। फिर भी इनमें पर्याप्त 'संगीत' है और किसे मालूम हमारे बहुत से रागों और तालों का मूल स्त्रोत इन्हीं गैर-संगीतात्मक चीख-पुकारों में निहित हो ?

सामान्य संगीत के बारे में जो सत्य है, वाद्यों के सिलसिले में वह और भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। हालांकि अनेक विद्वान इस मत का विरोध करते हैं, फिर भी बहुत से विद्वानों की यह मान्यता है कि तंत्र-वाद्य के निर्माण का विचार संभवतः शिकारी या युद्ध संबंधी धनुष और बाण के कोण द्वारा उत्पन्न टंकार से दिमाग में आया होगा। इस अनुमान का आधार भी है। जब राम के विरुद्ध रावण अंतिम संग्राम में प्रविष्ट होता है तो बड़े दंभ के साथ कहता है, 'राम मेरी युद्ध निपुणता से परिचित नहीं। मैं अपने बाण के कोण से अपनी धनुष-रूपी वीणा को बजा दूंगा; मेरे शत्रुओं के हृदय थरथराने लगेंगे और वे सभी तितर बितर होकर भाग जाएंगे'। ऐसे मत उपलब्ध हैं कि तुनतुने जैसे लोक प्रचलित तंत्र-वाद्य वास्तव में जानवरों को पकड़ने वाले सफरी फंदे ही हैं। ये धारणाएं दूर की कौड़ी लग सकती हैं; लेकिन इससे भी अधिक युक्तियुक्त प्रमाण मौजूद हैं। उदाहरण के लिए पुलायन जैसे हमारे जंगली भाइयों द्वारा आग उत्पन्न करने के लिए प्रयोग किये जाने वाले औजारों को लें। दांतेदार सतह से युक्त यह बांस की एक खपच्ची मात्र है, जिस पर बांस की ही एक और छड़ जोर से रगड़ी जाती है और इस प्रकार उत्पन्न ताप का आग सुलगाने में उपयोग किया जाता है। यह घर्षण ध्वनि करने वाला या रगड़ने वाला उपकरण ही बाद में कोक्कर, गरगर, रुगा ब्रैया, किरिकिट्टक या पिशाच नर्तकों का सुक्ति-वाद्य कहलाया। खाना पकाने के बर्तनों की वाद्य रूप में रूपांतरण की कल्पना और भी सरल है। बर्तन, हंडिया तथा अनाज का भंडार रखने, मापने और पकाने के काम आने वाले अन्य पात्र जब खाल से मढ़ दिये जाते हैं तो ढोल बन जाते हैं; और यह समझना कठिन नहीं कि इस तरह किस प्रकार तबला या डग्गा अस्तित्व में आया होगा। ऐसे ही खाने के काम में आने वाली धातु की तश्तरी पीटे जाने पर थाली नामक प्रसिद्ध लोक-वाद्य बन जाता है। हम सभी ने सड़क कूटने वाले दुर्मुठ से मजदूरों को सड़क कूटते देखा ही है। यह उपकरण थिम्मस या टिप्पणी भी कहलाता है, जो कंकड़ों को कूटने और समतल करने के काम आने वाला एक उपकरण है। जब मजदूर काम करते हैं तो थिम्मसों की लय के साथ सभी स्त्री-पुरुष गाना गाते हैं। पूरे दिन की मेहनत के बाद कूटने की गति स्वयं एक नृत्य बन जाती है और पटका जाता हुआ दुर्मुठ लय-ताल देने वाला संगीत-वाद्य–यही टिप्पणी नाच कहलाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संगीत तथा संगीत-वाद्यों का उद्‌गम अक्सर गैर-सांगीतिक उपकरणों और क्रियाकलापों में ही उपलब्ध होता है।

फिर, जिन्हें हम संगीत-वाद्य के नाम से जानते और पुकारते हैं, उनके प्रायः दुहरे और यहां तक कि बहुमुखी उपयोग भी होते हैं। ये उपयोग कभी कभी सांगीतिक और ज्यादातर गैर-सांगीतिक होते हैं। उदाहरण के लिए शंख नामक वाद्य केरल, कर्नाटक और उड़ीसा आदि में पंचवाद्य नाम से उपलब्ध वाद्य समूह का एक अंग है। किंतु यही शंख तुरही के समान युद्ध की घोषणा करने वाला अथवा विजय प्राप्ति

की सूचना देने वाले सामरिक व उद्घोषक वाद्य के रूप में भी इस्तेमाल होता था। इसके अलावा हिंदू लोग पूजा क्रिया के अंतर्गत मांगलिक ध्वनि उत्पन्न करने तथा पवित्र जल या दूध रखने के लिए भी इसका उपयोग करते रहे हैं। ये पंचवाद्य या पंचमहाशब्द सत्ता के प्रतीक भी थे। जब कोई सामंत, महामण्डलेश्वर युद्ध में हार जाता तो उसे तुरही, घड़ियाल, ढोल और शहनाई नामक पंचवाद्य विजेता को समर्पित करने पड़ते थे। ढोल भी हमेशा सिर्फ संगीत तक सीमित नहीं रहा। देहात में मुनादी करने वाले अथवा सिनेमा के टिकट बेचने वाले का भी यह एक प्रभावशाली सहायक माना जाता रहा है और, अफ्रीका के संदेशवाहक ढोल तो प्रसिद्ध ही हैं। उनके स्वर की ऊंचाई, प्रगाढ़ता तथा उनके वादन के तरीके स्वयं संदेश बन जाते हैं, जो दूर दूर तक भेजे जाते हैं। 'टम्माटाई (एक प्रकार का ढोल) पीटना'–यह एक तमिल भाषा का मुहावरा है, जिसका अर्थ है 'अपनी तुरही आप बजाना' (यानी 'अपने मियां मिट्ठू बनना')। यहां भी ढोल और तुरही के दुहरे इस्तेमाल देखे जा सकते हैं। लेकिन त्रिपुरा के **लेबंग गुमानी** (1) जैसे कुछ विचित्र उदाहरण भी हैं। यह वाद्य बांस की लटकनों का एक विलक्षण समुच्चय है, जिनमें लघु तुनतुने जुड़े रहते हैं और यह दूसरे वाद्यों के साथ साथ तालियों तथा निराले ढंग की टंकारों के संग बजाया जाता है। वहां के लोगों का कहना है कि इन आवाजों को सुनकर खेतों में फसलों पर आक्रमण करने वाले कीड़े संगीतकारों के चारों ओर इकट्ठे हो जाते हैं और फिर



1. लेबंग गुमानी

आसानी से फांस लिए जाते हैं। कृषि संहार को रोकने का यह अजब और बढ़िया संगीतात्मक तरीका है। इससे भी ज्यादा मनोरंजक चोरों का एक तंत्र-वाद्य था। जब वे माल की तलाश में अंधेरे में विचरते थे तो **काकली** नामक धीमी आवाज वाले वाद्य को आहिस्ते आहिस्ते बजाते थे। अगर घर का कोई आदमी नहीं जागता तो यह मान लिया जाता था कि आगे बढ़ने का 'रास्ता' साफ है। दण्डी-रचित 'दशकुमारचरित्र' के द्वितीय उच्छ्‌वास में पहले राजकुमार की जो कहानी है, उसमें एक जगह स्वयं राजकुमार के कथन से इस वाद्य का संकेत मिलता है। वह कहता है, "मैं संपत्ति, व्यवसाय और आचरण की दृष्टि से संपूर्ण नगर की जानकारी प्राप्त करके अपने पूरे शरीर पर गहरा नीला वस्त्र ओढ़कर, कमर में अत्यंत पैनी तलवार कसकर, फरसा, काकली (कोमल ध्वनि वाला तंत्र-वाद्य), संडसी, कृत्रिम शिर, निद्राचूर्ण, छलयुक्त लालटेन, नापने का फीता, केंकड़ा, रत्ती, दीपभाजन, दीया बुझाने वाले पतंगों की टोकरी इत्यादि अनेक उपकरणों से युक्त होकर एक अत्यंत लालची सेठ के घर पर पहुंच कर दीवार में सेंध लगाकर गवाक्ष के छोटे से छेद से घर के भीतर दिखायी दे रही स्थिति की आराम से टोह लगाकर अपने ही घर के समान अंदर घुसकर उस सेठ के कोष से बड़ी तादाद में धन लेकर निकल आया।"

अब तक का यह समस्त विवेचन संगीत-वाद्य की व्यापक परिभाषा की आवश्यकता को उद्‌घाटित करता है। जिस प्रकार संगीत मानव के लय-स्वर-युक्त मनोवेगों के धुंधले कुहासे से प्रारंभ होता है, ठीक वैसे ही वाद्यों के उद्‌गम स्थल भी बहुत अस्पष्ट हैं। वस्तुतः सब से पहला वाद्य स्वयं मनुष्य का शरीर है, जो पैर पटककर, ताली बजाकर, जांघों या नितंबों को पीटकर लय-ताल उत्पन्न करने के काम आता रहा है। इसीलिए हमारे प्राचीन विद्वानों ने मानव-कंठध्वनि को गात्र वीणा (शरीर वीणा) या दैवी वीणा (ईश्वर-प्रदत्त वीणा) तथा अन्य सभी वीणाओं को दारवि वीणा (लकड़ी की वीणा) कहा था। ऐसी हालत में अब हम वाद्यों की एक ही परिभाषा की कल्पना कर सकते हैं कि पत्थर के टुकड़े या पत्ती से लेकर कंप्यूटरीकृत अत्यंत जटिल इलेक्ट्रोनिक ध्वनि संश्लेषक तक, हर वह पदार्थ संगीत-वाद्य है, जो 'संगीत' उत्पन्न कर सके।

गात्र वीणा शब्द में वीणा शब्द के प्रयोग पर हमें आश्चर्य हो सकता है, क्योंकि आमतौर पर इस शब्द को हम आघातमूलक तंत्र-वाद्यों से जोड़ते हैं। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि पहले इसका अर्थ कंठध्वनि समेत किसी भी ऐसे वाद्य से ले लिया जाता था, जो स्वरावली उत्पन्न करने में समर्थ हो। चित्रा और विपंची वीणाओं के समान ऊंगली से केवल छेड़कर बजाये जाने वाले, रुद्र वीणा, सरस्वती वीणा, तथा कच्छपी वीणा के समान सारिकाओं पर आघात करके बजाये जाने वाले सभी प्रकार के तंत्र वाद्य वीणा कहलाते थे। नागस्वरम् और शहनाई जैसे सुषिर-वाध प्रायः मुख वीणा

अर्थात् मुंह से बजायी जाने वाली वीणा कहलाते थे। आज भी हिंदी के बीन शब्द का अर्थ रुद्र वीणा के साथ साथ पुंगी भी होता है, जो सपेरों का एक सुषिर-वाद्य है। ऐसा ही भ्रम मर्दल या मादल के बारे में है, जो मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों का दो मुंहवाला ताल-वाद्य है। लेकिन हमारे देश के दक्षिणी भागों का **मद्दलम्** या **मद्दले** वाद्य दोमुंहा होते हुए भी अपनी आकृति और ढांचे में इससे बहुत अलग है। इसी सिलसिले में एक सवाल यह भी उठता है कि क्या मुरज नामक वाद्य बड़ा डमरू ही था या यह कुछ कुछ आज के मृदंग जैसा था ? नाम संबंधी ये सवाल संगीत के आम विद्यार्थी को पंडिताऊ लग सकते हैं, किंतु इतिहास-विशेषज्ञ के लिए ये अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए, वीणा के मामले में भ्रम स्पष्ट है। आज हम इस शब्द का प्रयोग सारिकायुक्त या सारिकाहीन पाश्चात्य **ल्यूट** नामक वाद्य के अर्थ में करते हैं। अब अगर कोई इतिहासकार किसी प्राचीन ग्रंथ में इस शब्द को देखकर यह निष्कर्ष निकाल ले कि वर्तमान वीणा की वंश परंपरा बहुत पुरानी है तो उसके गलत होने की पूरी संभावना है। क्योंकि पुराने 'वीणा' शब्द का अर्थ कुछ दूसरा भी हो सकता है–संभवतः इसका अर्थ **हार्प** (एक पाश्चात्य तंत्र-वाद्य) रहा हो। यह कोरा अनुमान या आधारहीन पांडित्य प्रदर्शन मात्र नहीं है। ऐसे बहुतेरे प्रमाण हैं, जहां सर्वथा असंबद्ध व्युत्पत्तियां की गयी हैं और अंगशास्त्रियों के विवेचन सही दिशा तथा संगति खोकर विकृत इतिहास के रूप में सामने आए हैं।

अतः यह जरूरी है कि हमारे वाद्यों के इतिहास का अध्ययन करते समय सावधानी रखी जाए। प्रामाणिक सामग्री के अभाव में ग्रंथों से लिया गया कोई भी उद्धरण सांकेतिक उपयोगिता के अधिक अर्थ नहीं रखता, अतः निस्संदेह अन्य स्त्रोतों की भी छानबीन करनी पड़ेगी। इन स्त्रोतों में साहित्य (लोकोक्तियां, लोकगीत, लोककथाएं, परिष्कृत साहित्य आदि), शिलालेखीय दस्तावेज, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला संबंधी ग्रंथ तथा पांडुलिपियां एवं इनके साथ साथ उपलब्ध रूपों में कबीली और लोक-वाद्यों का सतर्क सर्वेक्षण शामिल है। हम यह मुहावरा अच्छी तरह जानते हैं–'अपनी तुरही आप फूंकना'। कन्नड़ में इसका समानार्थक है 'जागंटे बारिसु'। जागंटे एक धातु की तश्तरी होती है, जो भिखारियों द्वारा वाद्य-रूप में इस्तेमाल की जाती है (बारिसु=बजाना)। ऐसी स्थिति में यह लोकप्रचलित कहावत कर्नाटक में इस तरह के किसी वाद्य के अस्तित्व को उद्घाटित करती है। ओराओं का एक गीत है, जिसमें एक लड़का कहता है–

> "केले की पहाड़ी पर, मैंने सेमफलियां देखी हैं फैली और पकी हुई।
> एक बंदर फलियों को घूर रहा है, और मैं कहता हूं,
> अपने धनुष और बाण से मैं तुम्हें मार दूंगा
> मैं तुम्हारी चमड़ी उतार लूंगा।
> और फिर चमड़ी से मांदर बनाऊंगा

जब मैं मांदर बजाऊंगा
गांव की कुमारियां मेरे पास चली आएंगी।"

यहां हमें बंदर की खाल से संबंधित तथ्य का रोचक संकेत मिलता है कि इस खाल का उपयोग कुछ जनजातियों द्वारा ढोल के मुंह तैयार करने के लिए भी किया जाता है। संथाल लोग भी अपने **तुम्दा** नामक वाद्य को बनाने के लिए वानर की खाल का इस्तेमाल करते हैं। इस जानवर को पकड़ने के लिए वे ऐसे जंगल में जाते हैं, जहां बंदर रहते हैं। जब उन्हें अनुकूल ठिकाने का पता लग जाता है, तब हनुमान मंत्र का गान करते हैं, जिससे जानवर गतिहीन हो जाते हैं। इसके बाद बंदरों को पकड़कर मार दिया जाता है और उनकी चमड़ी ढोल बनाने के काम में ले ली जाती है। लोककथाओं और गीतों के अलावा अभिजात साहित्य भी वैदिक काल से ही सूचनाओं का कोश रहा है। इन सूचनाओं के दस्तावेज तैयार करना अभी बाकी है। उदाहरण के लिए आघाटि (मंजीरे), औदंबर और लंबर (ढोल), नाड़ि (बांसुरी), करकरी और वाण (तंत्र-वाद्य) कुछ वैदिक उल्लेख हैं। रामायण और महाभारत में नूपुर, भेरी, दुंदुभि, मृदंग, पटह, शंख, वेणु और सप्ततंत्री वीणा वल्लकी के हवाले मिलते हैं। इसी तरह पूर्ण अध्ययन के लिए अन्य सभी भाषाओं के साहित्य का भी निरीक्षण किया जा सकता है। लेकिन सर्वाधिक आकर्षक और फलदायक स्त्रोत (यद्यपि अत्यंत सतर्कता के साथ इसकी छानबीन करनी होगी) मूर्तियों, देव-प्रतिमाओं, उद्भूत चित्रों, दीवारों की चित्रकारी, लघु चित्रों और सचित्र पांडुलिपियों का दृश्य रूप है। इनके आंकड़े विशाल और विविध हैं, जो देश और काल में फैले हुए हैं। इस प्रकार के प्राचीनतम प्रमाणों में सिंधु घाटी से प्राप्त आलेख तथा चित्रलिपियां हैं। मध्यप्रदेश में प्राप्त प्रागैतिहासिक युग के चित्रों से लेकर अजंता तक बहुत से गुफा चित्रों में हमें इसके उदाहरण भी उपलब्ध हैं। संपूर्ण धरती पर बिखरे हुए मंदिर और स्मारक सूचनाओं की भरी पूरी खुली खानें हैं। लघु चित्रों के बारे में भी ठीक यही बात है। इतने बड़े भंडार को संभाल पाना किसी एक व्यक्ति के वश की बात नहीं। अनेक वर्षों तक पुरातत्ववेत्ताओं, कला-इतिहासज्ञों, भाषाविदों, नृवंशवेत्ताओं और संगीतशास्त्रियों द्वारा मिलजुल कर अलग अलग थोड़ा थोड़ा कार्य किया जाए, तब कहीं यह संभव है। कुछ व्यक्तियों द्वारा कार्य की शुरुआत भी हो चुकी है और आने वाले समय में न केवल हम अपने वाद्यों का इतिहास जानने में समर्थ होंगे, बल्कि उनके विचित्र भेद-प्रभेदों से भी परिचित हो सकेंगे।

ये नानाविध भेद-प्रभेद वाद्यों के वर्गीकरण में बहुत बड़ी अड़चन बन गये हैं। वाद्यों के कितने प्रकार हैं ? क्या उनके निर्माण में शामिल पदार्थों के आधार पर उन्हें वर्गीकृत किया जा सकता है ? या, बजाने की पद्धति इसकी कसौटी होनी चाहिए ? सांगीतिक क्रिया के आधार पर भी क्या इस समस्या का समाधान संभव है ? दरअसल यह समस्या उतनी आसान नहीं है। हमारे देश में और देश से बाहर

इसके समाधान की अब तक कई कोशिशें की जा चुकी हैं।

सांगीतिक उपयोगिता के आधार पर भारत के वाद्यों के तीन वर्ग स्वीकृत थे; गायन के साथ संगति करने वाले गीतानुग, नृत्य के साथ प्रयुक्त होने वाले नृत्यानुग तथा सोलो-वाद्य शुष्क कहलाते थे।

चीनी वर्गीकरण वाद्य-रचना के उपादानों पर निर्भर था, किन् (धातु), छे (पत्थर), तू (मिट्टी), छू (बांस) इत्यादि इत्यादि। पाश्चात्य विद्वानों ने दूसरे प्रकार की कल्पनाएं कीं और 19वीं शती में महिल्लों ने वाद्यों को चार व्यापक श्रेणियों में विभाजित किया : ऑटोफोन (जो बाद में इडिओफोन कहलाए), एक बार बन जाने के बाद जिनकी पुनः ट्यूनिंग नहीं होती, जैसे–घंटियां, रॉड, रिंग, घड़ियाल; मैंब्रानोफोन या अवनद्ध; कॉर्डोफोन या तंत्र; एअॅरोफोन या सुषिर-वाद्य। संगीत के प्रसिद्ध ग्रंथों में इनमें से पहले दो प्रकारों को आघात-वाद्य नाम से एक ही वर्ग में रखने की प्रथा रही है।

किंतु आज सारे संसार में जो वाद्य-वर्गीकरण प्रचलित है उसे आज से कम से कम दो हजार वर्ष पूर्व भारत में ही स्वरूप दिया गया था। पहला उल्लेख भरत के 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है, जिनका जीवनकाल 200ई. पू. से 200ई. के मध्य निश्चित किया गया है, यद्यपि इसके बारे में अब भी विवाद है। उन्होंने भी वाद्यों के चार वर्ग किये थे, घन, अवनद्ध, सुषिर तथा तत-वाद्य। बाद के कुछ अन्य ग्रंथकारों ने भी वाद्यों को वर्गबद्ध करने का प्रयास किया। उदाहरणार्थ, एक ग्रंथकार ने तीन प्रकार के वाद्य बतलाए, तत, वितत, और तत-वितत। किसी दूसरे ने अन्य तीन प्रकार बतलाए, चर्म, तंत्रिका और घन। ईसा की छठी शताब्दी से पूर्व कोहल ने घन, सुषिर, चर्मबद्ध और तंत्री नामक चार वाद्य भेद किये थे। दूसरी से छठी शताब्दी ई. के मध्य रचित तमिल के संगम ग्रंथों में हमें पांच वर्ग प्राप्त होते हैं, तोल-करुवि (तोल=चमड़ा) नरंपु-करुवि (नरंपु=तांत), तुलई-करुवि (तुलई=छिद्र), कंज-करुवि (कंज=धातु) और मिटात्रु-करुवि (मानवकंठ ध्वनि)। तमिल भाषा में करुवि का अर्थ है वाद्य। यहां वाद्यों के परिवार में कंठध्वनि के भी समावेश पर ध्यान दें, जो हमें संस्कृत ग्रंथों की 'गात्र वीणा' की याद दिलाता है।

आज भरत के बनाये चार बड़े वर्ग स्वीकृत हैं। फिर भी पारिभाषिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एक विस्तृत और गहरे वर्गीकरण की जरूरत है। नवीनतम प्रयासों के अनुसार, आधुनिक इलेक्ट्रोनिक वाद्यों को एक ओर छोड़ देने पर भी, घन-वाद्यों के सोलह, अवनद्ध के ग्यारह, सुषिर के बारह और तत के पंद्रह भेद उपलब्ध हैं।

'वाद्य' वस्तुतः बहुत व्यापक शब्द है। प्राचीन साहित्य में हमें आतोद्य और तूर्य नामक दूसरे शब्द भी मिलते हैं, जो इसके पर्यायवाची हैं। करुवि शब्द का संकेत किया ही जा चुका है।.

संगीत के समूचे परिदृश्य में यद्यपि वाद्यों के महत्व और उनके इतिहास पर जरूरत

से ज्यादा बल नहीं दिया जा सकता फिर भी, पहले तो हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि वाद्यों के अभाव में संगीत संबंधी शास्त्र भी कोई बहुत अधिक शेष नहीं रहता। यह अत्युक्ति लग सकती है, मगर यह सच है कि अगर संगीत-वाद्य न होते तो संगीत का शास्त्र या व्याकरण भी न होता ! स्वयं कंठ में सीधे कंठध्वनियों को मापने का कोई तरीका नहीं है। तारों की लंबाई, उनकी संख्या, तनाव, उन्हें स्वर में मिलाना और ऐसे ही मापने योग्य अन्य परिमाणों ने हमारे लिए ध्वनि संबंधी संगीतशास्त्र के विकास को संभव बनाया है। इसी तरह बांसुरी के सुराखों की संख्या या वीणा की सारिकाओं की संख्या तथा उनकी दूरियों ने भी हमें संगीत सप्तकों के अध्ययन के तरीके प्रदान किये हैं। इस प्रकार के प्राचीनतम विवरणों में से एक स्वयं भरत का उपलब्ध है। अपने नाट्यशास्त्र में वह ध्रुव वीणा और चल वीणा नामक दो वीणाओं पर एक प्रयोग का जिक्र करते हैं, जिसके माध्यम से उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध स्वरांतरालों को निर्धारित किया। इसके अलावा नारद (ईसा की पहली शताब्दी) पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने वैदिक तथा लौकिक स्वरों के परस्पर संबंध को बांसुरी के माध्यम से तालिकाबद्ध किया। इस सिलसिले में एक और महत्वपूर्ण उदाहरण 17वीं शताब्दी के अहोबल का है, जिन्होंने अपने समय में प्रचलित वीणा पर सारिकाओं की स्थापना की थी। इस स्थापना से ही सप्तकों में स्वरों के तत्कालीन स्थूल संबंधों की गणना संभव हो सकी थी। दूसरी बात यह है कि उक्त संगीतशास्त्रीय महत्व के अलावा, वाद्यों की मूल प्रकृति का हमारे संगीत के विकास पर भी गहरा प्रभाव रहा है। इसकी विस्तृत चर्चा यहां कठिन है, लेकिन हम इतना ध्यान रख सकते हैं कि लगभग 10वीं शताब्दी ई. तक मंडल वीणाएं (हार्प के प्रकार वाली वीणाएं) भारतीय संगीत से हट चुकी थीं और रुद्र, किन्नरी, कच्छपी जैसी वीणाएं तथा बाद में सितार, सरोद और सरस्वती वीणा प्रचार में आ गए थे। इससे हमारे संगीत के व्यवहार और सिद्धांत दोनों पक्षों में विशाल परिवर्तन आ गये। तीसरी बात यह है कि वाद्यों के निर्माण में आने वाले पदार्थ हमें भिन्न-भिन्न जातियों की भौतिक संस्कृति के बारे में महत्वपूर्ण सूचनाएं भी देते हैं। वाद्यों की लकड़ी, बांस या घास की किस्म-विशेष हमें उस समय के वनस्पति जगत के बारे में बतलाती है। त्वचा की प्रकृति हमें मृग, गाय, भैंसा, घड़ियाल, गोह आदि जीव-जंतुओं के बारे में सुराग देती है। इसी तरह तारों के निर्माण में प्रयुक्त होने वाली धातु या ढोलों के पात्रों को गढ़ने वाली मिट्टी समाज-विशेष के तकनीकी ज्ञान का संकेत करती है।

सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य

वा..ं के विभिन्न वर्गों या एक ही वर्ग के अलग अलग वाद्यों के इतिहास का अध्ययन करने से पहले अपनी धरती, उसके संगीत और संगीत वाद्यों के सांस्कृतिक इतिहास की चर्चा कर लेना भी एक हद तक जरूरी होगा। अब तक जो कुछ कहा जा चुका है, उसे दृष्टिगत रखते हुए यह विशेषतौर पर महत्वपूर्ण है। हमारे अब तक के अवलोकन ने यह स्पष्ट कर दिया होगा कि वाद्यशास्त्र का इतिहास लिखते समय केवल संगीत ग्रंथों के संदर्भ दे देना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि इसके साथ साथ कबीली तथा लोक जीवन, सामान्य कला के इतिहास, देश की भाषा संबंधी गतिविधियों, समाजशास्त्रीय गतिशीलता तथा इनके अतिरिक्त अन्य अनेक दिशाओं की छानबीन जरूरी होगी। केवल तभी संपूर्ण स्थिति का सही मूल्यांकन संभव है और पुस्तकों के गतिहीन ज्ञान में फंसने की संभावना से भी तभी बचा जा सकता है। किसी देश की सामान्य जनता, उसके नित्य क्रियाकलाप, उसका साहित्य, चित्रकला, तकनीकी विज्ञान और उसके द्वारा किया देश-विदेश का भ्रमण उस देश के इतिहास का निर्माण करते हैं। अतः इस सबके आधार पर ही समाज के सांस्कृतिक विकास को समझा जाना चाहिए।

"यह पुस्तक भारतीय संगीत-वाद्यों से संबंधित है"—बहुत ही स्पष्ट किंतु फालतू किस्म का कथन है यह! लेकिन ऐसे सरल वाक्य का तात्पर्य समझना भी उतना आसान नहीं होता जितना ऊपर से देखने में लगता है। इसमें सबसे पहली कठिनाई तो तब आती है जब शुरू में ही "संगीत-वाद्य" की बेहद धुंधली परिभाषा हमारे हाथ लगती है। बेहद धुंधली इसलिए क्योंकि हम वाद्यों के गैर-सांगीतिक उद्गमों और उनके गैर-सांगीतिक उपयोगों की संभावनाओं के बारे में भी जान चुके हैं।

अगली कठिनाई, जिसका हमें सामना करना पड़ता है वह है "भारतीय" शब्द। "भारत" को किन आधारों पर परिभाषित या सीमित करना है, जब तक इसे नहीं समझ लिया जाता तब तक निष्पक्ष विचार संभव ही नहीं। उदाहरण के तौर पर हारमोनियम को लीजिये। यह फिलहाल "भारतीय" वाद्य है; लेकिन क्या यह यूरोप से नहीं आया? दूसरी ओर क्या हारमोनियम की रीड वाली व्यवस्था कबीलाई मणिपुर के खुंग या रूसेम नामक भारतीय सुषिर-वाद्यों में भी प्राप्त नहीं होती? इन दो स्पष्टतया परस्पर विरोधी तथ्यों के रहते हारमोनियम की "भारतीयता" को आखिर

कैसे समझा जाए ?

जब भी हम किसी वाद्य का प्रयोग करते हैं, उसकी उत्पत्ति अपनी ही धरती से जोड़ने का बहुत बड़ा लालच होता है। यद्यपि कुछ ऐसे भी प्रसिद्ध विद्वान हैं जिनकी मान्यता है कि ये सभी वाद्य विदेशों से भारत आये थे ! वास्तविकता निश्चित ही इन दोनों मान्यताओं के कहीं बीच में है : अर्थात् इनमें से ज्यादातर वाद्य देशी हैं तो अनेक वाद्य बाहर से भी आये हैं। काफी वाद्य ऐसे भी हैं जो देश से बाहर चले गये और भिन्न स्वरूप व संभवतया भिन्न नाम धारण करके वापस लौटे, तो बहुत से ऐसे हैं जो विदेश से भारत में आये और उन्हें शायद हमारे नाम दे दिये गये।

उपर्युक्त चर्चा उस भारतीय संस्कृति के विशाल फलक की लघु तस्वीर मात्र है, जिस संस्कृति का बहुत कुछ इसी धरती का है तो बहुत कुछ दूसरे देशों से आया है। ऐसी दशा में क्या राजनीतिक मानचित्र को भारतीयता के मानदंड के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ? स्पष्ट है बिल्कुल नहीं। फिर, आज से लगभग साठ साल पहले का जो भारत था, वह बिना किसी मान्य संगीत संबंधी विभाजन के आज विभिन्न राजनीतिक प्रदेशों में बंट चुका है। वर्गीकरण के मानवजातीय तथा सांस्कृतिक मानदंडों की स्थिति देखने में इससे कुछ बेहतर लगती है। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि पोलीनेशिया का रक्त और जातीय श्रेणी भारत से ही दक्षिण-पूर्व एशिया की ओर गये थे। ऐसा सिर्फ अनुमान ही है कि शायद कभी हमारे कबीली लोगों और अफ्रीका की नीग्रो जाति के लोगों में मानवजातीय संबंध रहे होंगे। उक्त सभी मानदंडों की तुलना में भौगोलिक विभाजन रेखाएं फिर भी युगों तक स्थायी रहती हैं। लेकिन कठिनाई यहां भी है, वह यह कि मनुष्यों के अन्य देशों में जाकर बसते रहते के कारण विशाल पहाड़ी दीवारों और समुद्री दूरियों के बावजूद कई बार जीवन पद्धतियों में समानता पायी जाती है। उदाहरण के तौर पर कश्मीरी संगीत और नृत्य दक्षिणी रूस के संगीत और नृत्य से बहुत मिलता-जुलता है, इसी तरह इंडोनेशिया के साहित्य, नृत्यों तथा संगीत-वाद्यों में बहुत हद तक भारतीय तत्व दिखायी देता है। इस सब तर्क-वितर्क को दृष्टिगत रखते हुए अपने अध्ययन के लिए फिलहाल हम यह मान सकते हैं कि हमारा सांगीतिक मानचित्र मोटे तौर पर उत्तर में अफगानी पर्वतों तथा हिमालय से, पश्चिम में सिंधु नदी से, पूर्व में मेघालय की पहाड़ियों से और दक्षिण में समुद्र से घिरा हुआ वह क्षेत्र है, जिसमें मुख्य धरती के पास की खाड़ी और समुद्री द्वीप भी शामिल हैं। इस प्राचीन और विशाल क्षेत्र में रहने वाली प्रत्येक जाति ने इस देश के संगीत को अपना योगदान दिया है और आज हम जिन्हें अपने संगीत और वाद्यों के रूप में जानते हैं वे इन तमाम सभ्यताओं की ही देन हैं।

इस उपमहाद्वीप की आदिम मानव जातियों के बारे में पर्याप्त और निश्चित प्रमाण हमारे पास नहीं हैं। शायद वे आबनूस जैसे रंग के नेग्रीटो जाति (एक नाटी हब्शी जाति) के लोग थे। जहां तक संगीत और वाद्यशास्त्र का संबंध है इस सिलसिले में

अभी भी अंधकारमय स्थिति है, क्योंकि अभी तक हम वांछित तौर पर अपनी और अफ्रीकी आदिम जातियों के वंशगत तथा सांगीतिक संबंधों को नहीं खोज पाये हैं। वंशगत लक्षणों के अलावा द्रविड़ भाषाओं और कुछ अफ्रीकी बोलियों (वोलॉफ) में समानताएं अवश्य देखी गयी हैं। उदाहरण के लिए :

हिंदी	**वोलॉफ**	**द्रविड़**
ऊंगली	बरम् या वरम्	बेरड़ या विरड़
पैर	यल्	काल्
बैंगन	बतंसे	बदने
घड़ा	पन	पानई
हाथी	नेय्	आनय् (तमिल)
		आने (कन्नड़)
		एनुगु (तेलुगु)

ये केवल गिने-चुने उदाहरण हैं तथा बहुत से और उदाहरण भी प्राप्त हो चुके हैं। लेकिन यहां हमारे लिए इससे भी ज्यादा संगत और विषय से संबद्ध एक तथ्य है और वह यह है कि इन भौगोलिक क्षेत्रों के बहुत से वाद्यों में भी समानता मिलती है। अफ्रीका के बेल्जियन कोंगो और रूआंडा-उरूंडी के कम से कम दस वाद्य ऐसे हैं जो हमारे मध्यप्रदेश, उड़ीसा और आंध्र के कबीली वाद्यों के काफी निकट हैं। यह आश्चर्यजनक साम्य सिर्फ संयोग है अथवा इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि आज की ये दो भिन्न संस्कृतियां संभवतः कभी आपस में संबद्ध रही होंगी। कहीं बहुत समय पहले ये दोनों संस्कृतियां एक ही संस्कृति का अंग तो नहीं थीं, जो बाद में भू-वैज्ञानिक उथल पुथल के कारण अलग अलग टुकड़ों में विभक्त हो गयीं ? जहां तक ज्ञात है लेमूरिया नामक महाद्वीपीय विशाल भू-भाग अफ्रीका से लेकर दक्षिण भारत से होता हुआ ऑस्ट्रेलिया तक कभी न कभी अस्तित्व में तो था ही। लेकिन उन युगों में मानव समाज और मानवों के एक जगह से दूसरी जगह आने जाने का कोई साक्ष्य नहीं मिलता। ऐसी हालत में विभिन्न समाजों के बीच बाद में विकसित समुद्री आवागमन को आधार बनाए बिना अफ्रीका और भारत के वाद्यों की समरूपता को आखिर कैसे स्पष्ट किया जा सकता है ?

अगली महत्वपूर्ण सभ्यता द्रविड़ों की है, जिसकी पूर्व-परंपरा आज भी विवाद का विषय बनी हुई है। हम अभी अफ्रीका और अपनी धरती के भाषापरक तथा वाद्यशास्त्रीय रिश्ते की संभावनाओं पर विचार कर चुके हैं। क्या इन दोनों में जातिगत संबंधों की भी संभावनाएं हैं ? एक मत के अनुसार ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी में समुद्री नाविक भारत पहुंचे थे जिनकी यहां के रहने वालों से उत्पन्न संतान ही द्रविड़ कहलायीं। एक अन्य दृष्टिकोण के आधार पर द्रविड़ लोग भूमध्यसागरीय किसी जाति

के वंशज ठहरते हैं। एक दूसरे प्रचलित अनुमान के अनुसार बाहर से आये आर्यों ने यहां के मूल निवासियों के साथ समागम करके द्रविड़ों को उत्पन्न किया। कुछ अतिप्रसिद्ध विद्वानों का मत है कि आर्यों और द्रविड़ों का यह विभाजन ही अप्रमाणिक है। उनके अनुसार इस पूरे उपमहाद्वीप में एक ही प्रकार के समाज का अस्तित्व था।

निष्कर्षों की इतनी ज्यादा विविधता को देखते हुए बेहतर होगा कि इस प्रश्न को यहीं छोड़ दिया जाए और अध्ययन की सुविधा के लिए इन दोनों जातियों को अलग अलग मान लिया जाए : पहली **द्रविड़** (?) जिसका प्रारंभ सिंधु घाटी से हुआ और जो बाद की प्रायद्वीपीय संस्कृतियों में तत्वरूप में जीवित रही, और दूसरी **आर्य** जो वैदिक काल से अब तक संपूर्ण भारत को एक ही आवरण में लपेटे हुए जीवित है।

सिंधु घाटी की सभ्यता पहले मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में पायी गयी थी। किंतु अब ज्ञात हुआ है कि यह काफी विस्तृत क्षेत्रों में फैली हुई ईसा से 3,000 वर्ष पूर्व की सभ्यता थी। अब तक की खुदाई में प्राप्त या चित्रों में दिखायी देने वाले संगीत-वाद्यों की संख्या बहुत ज्यादा नहीं है। इनमें करताल, झांझ और डमरू जैसा वाद्य लिए हुए एक स्त्री की प्रतिमा तथा मिट्टी की सीटियां आदि वाद्य ही अब तक खोदकर निकाले जा चुके हैं। मुहरों तथा चित्रों में लंबी आकृति के ढोल तथा मंडल वाद्य जैसे तंत्र-वाद्य भी दिखायी दिये हैं। इस सबसे अनुमान होता है कि उस काल का संगीत बहुत ज्यादा विकसित नहीं था।

सिंधु-संस्कृति और प्राचीन द्रविड़-संस्कृति में क्या कोई परस्पर संबंध स्थापित किया जा सकता है, यह एक विवादास्पद सवाल है। अगर किसी तरह यह संबंध स्थापित हो भी जाए तो भी यह संदेह तो बना ही रहेगा कि बाद की दक्षिणी जातियों में सिंधु-सभ्यता का संगीत कितना सुरक्षित रह पाया था। इस प्रकार शायद हमेशा के लिए यह चर्चा ही खत्म हो जाती है। ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों के तमिल-ग्रंथों में, जो इस क्षेत्र की हमारी प्राचीनतम लिखित स्त्रोत सामग्री माने जाते हैं, **याऱ्, कुराल** और **मद्दलम्** नामक वाद्यों का जिक्र मिलता है। **याऱ्** मंडल-वाद्य के प्रकार का एक वाद्य था और इसकी बहुत-सी किस्में प्रचलित थीं। ये सब विदेशी थीं या पूर्णतः देशी; इस सवाल के बारे में खोजबीन की पर्याप्त गुंजाइश है, क्योंकि कम से कम **मकर याऱ्** पर ग्रीक प्रभाव का संदेह किया जा सकता है। **कुराल** एक प्रकार की बांसुरी थी और **मद्दलम्** एक प्रकार का ढोल।

यदि यह मान लिया जाए कि ये लोग विदेशी थे, आर्यों का इस उपमहाद्वीप में आना और बस जाना भारतीय इतिहास की अत्यंत महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक है। इस तथ्य का खंडन नहीं किया जा सकता है कि हमारे बाद के विचार, धर्म और कला के बहुत बड़े हिस्से की आधारशिला ईसा से 2,500 वर्ष पूर्व इसी जाति के लोगों द्वारा रखी गयी थी। हमारे मस्तिष्क पर उनका प्रभाव इतना छाया हुआ है

कि हमारी जिंदगी के सभी पक्ष उन वैदिक संहिताओं में खोजे जा सकते हैं जो वैदिक अनुभवों के ही दस्तावेज हैं। उदाहरण के लिए, हमेशा यही माना जाता है कि संपूर्ण भारतीय संगीत का उद्गम ऋग्वेद और सामवेद से हुआ है। यह सच है कि हमारी जानकारी में यही सबसे प्राचीन व्याकरणबद्ध संगीत है। किंतु आर्यों के अलावा दूसरी जातियों द्वारा आम भारतीय जीवन-पद्धति और संगीत को दिये गये योगदान को भी नकारा नहीं जा सकता। हमारी संस्कृति का अनिवार्यतः एक ही आधार या उद्गम मान लेना बिल्कुल तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। अपने अध्ययन में हम ज्यों ज्यों आगे बढ़ते हैं, यह ज्यादा से ज्यादा साफ होता जाता है कि हमारी जीवन-पद्धति की वर्तमान खूबसूरत विविधता के निर्माण में मुख्य धारा के साथ साथ पहले भी कई दूसरी उपधाराएं बहती रही थीं और आज भी बह रही हैं।

अब हम सीधे अपने विषय पर लौटते हैं। वैदिक ग्रंथों में उस काल के धार्मिक क्रियाकलापों और मनोरंजन आदि में प्रयुक्त होने वाले वाद्यों के बारे में कुछ सूचनाएं मिलती हैं। एक आघाटि नामक वाद्य का उल्लेख है जो संभवतः झांझा ही था। **भूमिदुंदुभी, दुंदुभी, वनस्पति** जैसे ढोलों का इस्तेमाल भी उन दिनों होता था। बांसुरी जैसे वाद्यों में **तूणव** और **नाड़ि** थे। वीणाओं में **वाण, कांड, गोधा** और कुछ दूसरे प्रकार शामिल थे। आज सिर्फ इनके नाम ही रह गये हैं, क्योंकि केवल कुछ को छोड़कर शेष वाद्यों के इतने विवरण उपलब्ध नहीं कि उनके आधार पर इनका ठीक ठीक पुनर्निर्माण किया जा सके। वाद्यों के सिलसिले में भी नामों की समानता का यहां एक उदाहरण मिलता है, जो एशिया की अन्य संस्कृतियों से आर्यों की अत्यंत घनिष्ठता का स्पष्ट संकेत करता है। उदाहरण के तौर पर संस्कृत का **वीणा** शब्द प्राचीन मिस्री भाषा के **बींट,** सुमेरियन के **गिसबन,** जापानी के **बिवा** और चीनी भाषा के **पिपा** से बहुत मिलता जुलता है, इसे कोई आकस्मिक घटना नहीं माना जा सकता।

फारसी और मंगोलियाई सेनाओं के हमलों ने भारत को एक और नयी धारा की ओर मोड़ा; यद्यपि इन देशों से भारत के शताब्दियों पुराने संबंध थे। उत्तर भारत का अपने सीमावर्ती राष्ट्रों से युगों से व्यापारिक, धार्मिक और सैनिक संपर्क था। इस कारण संगीत तथा वाद्यों का भी आदान-प्रदान चल रहा था। संगीत संबंधी कुछ निश्चित शब्दों की समानता के अतिरिक्त हमारे तथा केंद्रीय एशिया के भित्ति-चित्रों में बांसुरियों और ढोलों का जो चित्रण मिलता है, वह इस तथ्य का पर्याप्त सबूत पेश करता है। किंतु ईसा की 11 वीं शताब्दी के आसपास, जब स्पष्ट रूप से भारत पर "इस्लामी" प्रभाव आरंभ होता है, एक शक्तिशाली संघर्ष की शुरुआत हुई। मगर सूफी विचार-तत्व और उसकी आत्मा को छोड़कर इस प्रभाव को पूरी तरह "इस्लामी" कह देना भी सही नहीं होगा; ठीक उसी तरह जैसे डमरू, वीणा और वेणु जैसे वाद्यों, जिनके हमारे देवकुलों से निश्चित संबंध थे, के अलावा किसी अन्य वाद्य को "हिंदू" मूल का मान लेना ठीक नहीं होगा। जो भी हो, इस धरती पर नयी जाति के आगमन

ने न केवल विभिन्न संगीत शैलियों को जन्म दिया, बल्कि डफ, सितार, सरोद और शहनाई जैसे कुछ नये वाद्यों से भी हमारा परिचय कराया, जिन्हें ये विदेशी अपने साथ लाये थे।

जब हम यह स्वीकार करते हैं कि बहुत से वाद्य हमारे यहां बाहर से आये हैं तो यह भी उतना ही सच होगा कि काफी बड़ी तादाद में हमारे वाद्य भी विदेश गये हैं। व्यापारियों तथा धर्म प्रचार हेतु जाने वाले बौद्ध भिक्षुओं के जरिये सुदूर पूर्व और मध्य पश्चिम के देशों तक हमारे बहुत से भारतीय वाद्य पहुंचते रहे हैं। वास्तविकता तो यह है कि गज से बजाये जाने वाले वाद्यों का जन्म ही भारत में हुआ था और बाद में वे संसार के दूसरे देशों में पहुंचे थे। इस तथ्य के बारे में प्रायः सभी एकमत हैं। फिर ईसा की 8 वीं शताब्दी से 15 वीं शताब्दी तक यावद्वीप और सुवर्णद्वीप (वर्तमान इंडोनेशिया) का संगीत की दृष्टि से काफी बड़ी सीमा तक भारतीयकरण हो चुका था। इस तथ्य का उद्घाटन उनके प्राचीन वाद्यों के नामों से होता है, जैसे–**पडहि** (संस्कृत **पटह**), **मुरवा** (सं. **मुरज**, तमिल **मुरशु**), **वङसी** (सं. **वंशी**), काहल, घंटा तथा भेरी। आज भी हम देखते हैं कि पश्चिमी देशों ने हमारे सितार और तबला को ज्यों का त्यों अपना लिया है।

पश्चिम के साथ संपर्क के कारण हमारे संगीत में भी सामान्यता कुछ परिवर्तन आये हैं यद्यपि इनकी विस्तृत चर्चा यहां अप्रासंगिक होगी। फिर भी कुछ तथ्य ऐसे हैं जो हमारे वर्तमान विषय के लिए उपयोगी हैं और जिनकी ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। पहला तथ्य कुछ खास पश्चिमी वाद्यों के अपनाये जाने के सिलसिले में है। वायलिन ऐसे ही वाद्यों में से एक है। यह बड़ी दिलचस्प बात है कि गज से बजाया जाने वाला सबसे पहला वाद्य भारतीय था जो निश्चय ही वायलिन का जनक रहा होगा। यद्यपि ईसा की 10 वीं शताब्दी के आसपास के मूर्तिकला संबंधी प्रमाण हमारे यहां भी किसी वायलिन जैसे वाद्य का अस्तित्व सिद्ध करते हैं, तथापि आज जिस रूप में वायलिन हमारे देश में मिलता है, उसका शास्त्रीय संगीत के लिए पहली बार उपयोग लगभग सौ, सवा सौ साल पहले ही किया गया था। प्रायः सभी इससे सहमत हैं कि 19 वीं शताब्दी में मद्रास के बालुस्वामी दीक्षितर ने पहली बार इसे कर्नाटक संगीत के अनुकूल ढाला। उन्होंने इसे संभवतः मद्रास के सेंट जॉर्ज किले में ठहरे यूरोप के बैंडमास्टरों से बजाना सीखा होगा। उनके परिवार के ही शिष्य वडिवेलु को इस वाद्य पर महारत हासिल थी, जिन्हें त्रेवेंकोर के महाराजा ने हाथीदांत का एक वायलिन भेंट करके सम्मानित भी किया था। आज यह दक्षिण भारत का प्रमुख वाद्य माना जाता है और कुछ हिंदुस्तानी शैली के वायलिन वादकों ने भी पर्याप्त क्षमता अर्जित कर ली है। पाश्चात्य वाद्यों में **क्लारनेट** भी एक ऐसा वाद्य है, जिसने कुछ हद तक गंभीर संगीत में अपना स्थान बना लिया है। लेकिन इसका प्रयोग वस्तुतः लोकप्रिय और सुगम संगीत के साथ साथ सड़क के बैंडों में ही ज़्यादा होता है। छिद्रों

को खोलने-बंद करने वाले यांत्रिक पदों की मौजूदगी के कारण ही शायद इसे अधिक संवेदनशील गुणग्राहकों का समर्थन प्राप्त न हो सका। भारतीय सुषिर-वाद्य शहनाई और नागस्वरम् में छिद्रों को बंद करने का काम ऊंगलियां करती हैं, इस कारण अपेक्षाकृत सूक्ष्म स्वरों और गमकों का निकाल पाना आसान हो जाता है। क्लारनेट के यांत्रिक पर्दे इसे असंभव बना देते हैं। पश्चिम से आये वाद्यों में सबसे बड़ा धावा हारमोनियम ने बोला है। चाहे लोक संगीत हो, सुगम संगीत या हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत हो, सर्वत्र इसका खूब प्रयोग होता रहा है। कारण, न तो इसे मिलाने की जरूरत पड़ती है, न यह खर्चीला है और न ही इसे लाने ले जाने में कोई कठिनाई होती है। हां, कर्नाटक शास्त्रीय संगीत जरूर अभी तक इसकी पकड़ से बाहर है। लेकिन यह एक तथ्य है कि हारमोनियम का मूल ढांचा इसे उन सूक्ष्म श्रुतियों व गमकों को प्रस्तुत करने की सामर्थ्य से वंचित रखता है जो हमारे संगीत के सबसे खूबसूरत अंगों में से हैं।

आरकेस्ट्रेशन एक प्रमुख नया आयाम है जो पश्चिम से हमारे संगीत में आया। ऐसा नहीं है कि इससे पहले भारत में सामूहिक वादन की परंपरा नहीं थी; लेकिन फिर भी आरकेस्ट्रेशन तथा हारमनाइजेशन बिल्कुल नयी प्रवृत्तियां हैं। संस्कृत में वाद्य समूह को **कुतप** कहते थे; दक्षिण भारत में यह **मूल** (मेलम्) कहलाता है। आजकल ऐसी वाद्य-मंडली से, जिसे वाद्य-वृंद के नाम से जाना जाता है, हम सभी ऑल इंडिया रेडियो के माध्यम से भलीभांति परिचित हैं, जो देश के कुछ बड़े वृंदों को कायम रखे हुए है। ईसा से लगभग 200 वर्ष पहले भरत ने नाटक के संदर्भ में विस्तार से **कुतप** का वर्णन किया था। उन्होंने **कुतप-विन्यास** की चर्चा करते हुए वीणा-वादकों, ताल-वादकों, गायकों आदि के बैठने की व्यवस्था के बारे में भी निर्देश दिये थे। आज भी हमारे पास विभिन्न किस्मों तथा आकार के ऐसे अनेक वृंद मौजूद हैं। इनमें **पंचमहाशब्द** का जिक्र किया ही जा चुका है। कर्नाटक, केरल और उड़ीसा में **पंचवाद्य** का प्रचलन है, जिसमें कोंबु (हॉर्न) शंख; मुखवीणा या मोहोरी (शहनाइयां) ढोलक, तिमिला और हड़क्का (ढोल), झांझ या तालम् (मझीरे) वाद्यों में से कुछ या सभी अलग अलग इलाकों में प्रचलित हैं। तमिलनाडु का **नय्यांडि मेलक** और कर्नाटक का **करग मेल** भी बहुत प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त **अष्टादशवाद्य** जैसे **मंदिर-कुतप** भी हैं, जिनमें वास्तव में अठारह वाद्य नहीं होते जैसाकि नाम से भ्रम होता है। छोटे तथा बड़े नगरों में शादियों के बैंड तो सभी देखते-सुनते हैं, जिनमें **ट्रोंबोन, ट्रंपेट, एकार्डियन, केटिलड्रम** आदि कुछ नितांत पाश्चात्य वाद्य इस्तेमाल किये जाते हैं। इसी तरह पुलिस तथा सशस्त्र सेनाओं द्वारा प्रयुक्त वाद्य भी पूरी तरह विदेशी होते हैं।

इनमें पुलिस व सैनिक बैंडों को छोड़कर अन्य सभी वाद्य मंडलियां भारतीय संगीत ही बजाती हैं। इस दृष्टि से पश्चिम से अपनाया गया आरकेस्ट्रेशन एकदम अलग वस्तु है। आज इसका मतलब उस संगीत से लिया जाता है, जो **कॉर्डो** (एक

साथ बजने वाला निश्चित स्वर-समूह) और **हारमनी** (कॉर्डों की प्रगति क्रमिक व्यवस्था) पर आधारित है और जिसमें स्वारांतरण (आधार-स्वर बदलकर उन्हीं स्वरों को बजाते रहना और इस प्रकार खेल में परिवर्तन कर देना) की प्रधानता है। ये तमाम विशेषताएं जहां हारमनी-संगीत के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण और सौंदर्यवर्द्धक हैं, वहां भारतीय संगीत प्रतिभा के लिए बिल्कुल परायी हैं। लेकिन, यह बहुत महत्वपूर्ण बात है कि स्वरांतरण की यह प्रक्रिया स्वर-लगाव की उस नजाकत को ध्वस्त कर देती है, जो राग-संगीत की जान है। ठीक इसी तरह हारमनी संगीत की तकनीक उन तमाम गमकों को गायब कर देती है, जिनके कारण रागों के गायन वादन में परिष्कृत रमणीयता का संचार होता है। फिर, इस तरह के संगीत में हमारी तालों की जटिलता प्रदर्शित की जा सकेगी, इसमें भी संदेह है। हमारे संगीत के ये ऐसे तत्व हैं, जिन्हें किसी भी कीमत पर हम खोना नहीं चाहेंगे। इन परिस्थितियों में क्या आरकेस्ट्रेशन को राग-संगीत का रचनात्मक प्रेरक माना जा सकता है ?

निश्चय ही ध्वनि क्षेत्र में आरकेस्ट्रेशन ने हमें नये आयाम प्रदान किये हैं। संदर्भमूलक संगीत में स्वर-वाल्यूम और उनके गुण बहुत उपयोगी साबित हुए हैं। संदर्भमूलक संगीत में संगीत का उपयोग फिल्मों, नाटकों और नृत्यनाट्यों में निश्चित क्रियाओं और घटनाओं को उभारने, उन पर बल देने और यहां तक कि मेघ गर्जन, पानी की कलकल, वर्षा की टिप टिप आदि आवाजों का अनुकरण तक करने के लिए किया जाता है। हालांकि वाद्य-वृंद ऐसे किसी भी संदर्भ के बिना ही संगीत प्रस्तुत करते हैं। कभी कभी यह संगीत अत्यंत उत्कृष्ट कोटि का होता है और इसका ढांचा प्रायः राग-पद्धति तथा लोकधुनों पर आधारित रहता है। इस रूप में इसे अच्छा भारतीय संगीत तो माना जा सकता है, लेकिन अच्छा राग-संगीत बिल्कुल नहीं।

हमारे वाद्यों के सांस्कृतिक इतिहास का यह संक्षिप्त सर्वेक्षण तमाम सामाजिक प्रक्रियाओं की गतिशील प्रकृति पर रोशनी डालता है। यह भारतीय समाज की अति उदार प्रकृति को उद्‌घाटित करता है और किताबी अध्ययन की एकांगिता के खतरों से सावधान करता है। किसी भी अन्य समाज की तरह हमारा वर्तमान समाज भी बहुत सी उपधाराओं का संगम है और इसे इसी रूप में देखा जाना चाहिए। अलबत्ता लंबे युगों तक फैली भारतीय सभ्यता, विशाल और असमान भूमि विस्तार और हमारी जिंदगी को बनाने वाली नानाविध जातियों की मौजूदगी की वजह से भारत की समस्याएं जरूर कुछ ज्यादा जटिल हो गयी हैं।

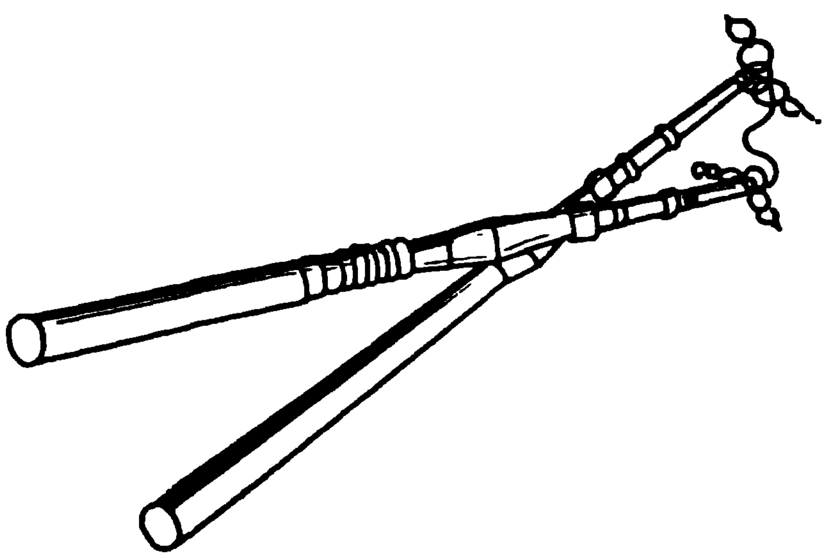
घन-वाद्य

यह मानना असंगत न होगा कि मानव जाति द्वारा प्रयुक्त संगीत वाद्यों में घन-वाद्य ही सबसे प्राचीन रहे होंगे। लय संबंधी तमाम क्रियाओं एवं चेष्टाओं में सम्मिलित रहने के कारण स्वभावतः सबसे पहला घन-वाद्य तो स्वयं मानव का शरीर है। नृत्य एवं संगीत के साथ हाथों से ताली बजाकर अथवा जंघाओं एवं नितंबों पर हाथ से आघात करके ताल देने की क्रिया में मानव शरीर की भूमिका सर्वज्ञात है। दरअसल ये क्रियाएं भी कबीलाई और लोक संगीत तक सीमित नहीं रहीं। ताली बजाकर, हाथ हिलाकर तथा ऊंगलियों पर गिनकर ताल देने वाली आज की क्रियाएं मानव के आदिम क्रिया-व्यापारों के ही परिष्कृत एवं व्याकरणीकृत रूप हैं। वैदिक अनुष्ठानों में हिस्सा लेने वाले गायकों के साथ एक गणक नामक व्यक्ति हुआ करता था, जो ऋचाओं आदि के सस्वर वाचन के समय हाथ से ताली देकर लय देने का कार्य करता था। आज भी कर्नाटक संगीत के कार्यक्रमों में, विशेषरूप से वादकों के साथ (जो गायकों की तरह स्वयं हाथ से ताली नहीं देते रह सकते) ऐसे ताल देने वाले कलाकार आमतौर पर देखे जा सकते हैं। ताल-क्रिया के विकास का इससे अगला चरण क्या रहा होगा, उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। इस दौर में निश्चय ही ताल के आघातों की ध्वनि को दमदार बनाने के लिए मानव शरीर से भी ज्यादा कठोर व ठोस पदार्थों, जैसे पत्थर, डंडा आदि के इस्तेमाल पर बल दिया गया होगा। बस, यहीं से घन-वाद्य अस्तित्व में आ गया और करताल, डंडा, घंटियां तथा मंजीरे जैसे वाद्यों का विकास हुआ।

आमतौर पर घन-वाद्यों की बनावट ही कुछ ऐसी होती है कि उनसे वे निश्चित स्वर उत्पन्न नहीं किये जा सकते, जिनके द्वारा मैलॉडी का सृजन होता है। यही कारण है कि उनमें से बहुतों को हम शास्त्रीय संगीत के साथ नहीं पाते। इतना ही नहीं, घन-वाद्यों द्वारा उत्पन्न ध्वनियां भी प्रायः अल्पकालिक होती हैं। इसी कारण ये वाद्य **ताल** के लिए अधिक उपयुक्त माने जाते हैं। फिर भी, जलतरंग और काष्ठतरंग जैसे कुछ अपवाद भी मिलते हैं जो अपनी गंभीर सीमाओं के बावजूद मैलॉडी संगीत की दृष्टि से उपयुक्त ठहरते हैं।

वाद्यों के इस वर्ग में सबसे सीधे सादे वाद्य संभवतः **रॉड** (डंडियां), **रिंग, घंटिका** और **करताल** हैं। लकड़ी का डंडा अथवा **कोलु** नामक वाद्य तो लगभग सभी जगह

देखे जाते हैं। ताल देने वाली लकड़ी की इन डंडियों के सर्वश्रेष्ठ और जाने माने उदाहरण गुजरात तथा भारत के दक्षिणी भागों में उपलब्ध होते हैं। ये डंडियां रंगबिरंगी भी हो सकती हैं और सादा भी, इनमें घुंघरू भी बंधे हो सकते हैं और नहीं भी। गुजरात में इन्हें डांडिया कहा जाता है। ये लगभग 30 सेंटीमीटर लंबी, चमकीली दो खूबसूरत डंडियां होती हैं, जो दोनों हाथों में एक एक पकड़ ली जाती हैं और डांडिया रास नामक नृत्य की लय के साथ आपस में बजाकर इनसे संगति का काम लिया जाता है। इसी तरह के समूह नृत्य आंध्र, कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु में भी बहुत लोकप्रिय हैं, जहां इस वाद्य को **कोलु** और नृत्य को **कोलाट्टम्** नाम से जाना जाता है। इसी नृत्य का एक मशहूर प्रकार है **पिन्नल कोलाट्टम्** (दक्षिण भारत) अथवा **गोम्फ** (गुजरात)। इसमें प्रत्येक नर्तक अपने एक हाथ में कोलु या डांडिया पकड़े रहता है और दूसरे में रस्सी या लंबा फीता। जब नृत्य शुरू होता है तो नर्तक कुछ इस ढंग से नृत्य करता है कि फीता अनेक खूबसूरत आकृतियों में गुंथता जाता है और इसके विपरीत क्रिया करने पर यह खुलता जाता है। **(2)**



2. कोलु या डांडिया

विल्लु कोट्टु या **ओण विल्लु** केरल का एक छोटा-सा घन-वाद्य है। इसमें या तो नारियल के पत्ते का डंठल अथवा पताला और संकुचित लकड़ी का एक ऐसा टुकड़ा होता है जो धनुष की आकृति में मुड़ा रहता है। इसीलिए इसे उक्त नामों से पुकारा जाता है, (**विल्लु** का अर्थ है धनुष)। इस 'धनुष की प्रत्यंचा' बांस की एक पतली सींक से बनी होती है, जिस पर एक दूसरे बांस के पतले टुकड़े से आघात किया जाता है। यह वाद्य क्योंकि ओणम् नामक त्यौहार में बजाया जाता है, इसलिए इसे 'ओण विल्लु' भी कहते हैं।

कश्मीर घाटी के लड्ढीशाह नामक गायक झंकार करने वाला एक वाद्य बजाते हैं, जिसे **डहारा** या **लड्ढीशाह** नाम से जाना जाता है। यह लगभग पौन मीटर लंबी लोहे की एक छड़ होती है जिसका ऊपरी किनारा बेंत के समान गोल मुड़ा रहता है और दूसरे किनारे पर एक आड़ा हैंडिल होता है। इस छड़ में धातु के अनेक छल्ले पड़े रहते हैं। फकीर जब गाते हैं तब अपने गीत की लय के साथ इसे हिला हिलाकर बजाते रहते हैं।

उत्तरी भारत में भिखारियों के कुछ निश्चित संप्रदायों द्वारा काम में लाया जाने वाला एक और सीधा सादा वाद्य है, चूड़ियां। धातु के कुछ कड़े हाथ की कलाई में पहनकर तथा उसी हाथ में लकड़ी की एक छोटी-सी छड़ी लेकर गायक उन कड़ों को पीछे की ओर पीटता है, जिससे बहुत ही आकर्षक झंकार पैदा होती है।

कुछ वाद्य ऐसे हैं जो अपनी विचित्र आकृतियों तथा आकारों के कारण वाद्यों के किसी स्पष्ट वर्ग या जाति विशेष में शामिल नहीं किये जा सकते। फिर भी वे बहुत रोचक होते हैं। क्योंकि ये वाद्य न केवल अनोखे और आकर्षक हैं, बल्कि मानव जाति विज्ञान की दृष्टि से भी उनका बड़ा महत्व है।

ऐसे वाद्यों में झिरीदार-वाद्यों का नाम लिया जा सकता है, जिन्हें अंग्रेजी में **स्लिट ड्रम** कहते हैं। वस्तुतः ये ड्रम हैं ही नहीं, क्योंकि न तो अंदर से ये खोखले होते हैं और न ही इनके मुंह पर चमड़ा मढ़ा होता है। फिर भी आघात-वाद्यों की श्रेणी में होने के कारण अधिकांश संगीत-ग्रंथों में आमतौर पर इसे **ढोल** (ड्रम) कहा जाता रहा है। आसाम के कबीलाई इलाके का **सोंगकोंग** नामक वाद्य इसका अच्छा उदाहरण है। इस इलाके में रहने वाले 'आओ नागा' इसे **तोंग्तेन** और **शेकू** नामों से भी पुकारते हैं। सोंगकोंग को झोंपड़ी के अंदर मोरुंग नामक उस शयनागार के पास रखा जाता है, जिसमें अविवाहित कबीलाई सोते हैं। किसी प्रकार का खतरा अथवा उसकी आशंका होने पर लड़के उसे जोर जोर से बजा देते हैं। इस प्रकार खतरे के संकेत देने का यह एक तरीका है; लेकिन क्योंकि इसके बनने में लगी लकड़ी गूंजदार होती है इस कारण नृत्यों में एक संगीत-वाद्य के रूप में भी इसका इस्तेमाल किया जाता है। मिल्स, जो इंडियन सिविल सर्विस का एक अफसर था और जिसने इस शताब्दी के आरंभिक दशकों में इन नागाओं को देखा था, ने इस वाद्य का वर्णन करते हुए लिखा है, "आओ नागाओं की दस्तकारी के शायद सबसे चौंका देने वाले नमूने उनके सोंगकोंग या तोंग्तेन नामक ढोल या ज्यादा सही कहा जाए तो काष्ठतरंग हैं। यह एक विशालकाय लट्ठा होता है जो कभी कभी 37 फुट लंबा तथा 14 फुट घेर का होता है। इस ढोल की लंबाई में बनायी गयी एक लंबी दरांत के जरिये बड़ी मेहनत से इस लट्ठे को खोखला किया जाता है। चाप्वुकोंग समुदाय (एक इलाका विशेष) को छोड़कर यह ढोल प्रत्येक **खेल** (गांव का एक हिस्सा) के पास होता है और उन सबके ढोलों की बनावट में असाधारण रूप से एकरूपता पायी जाती है।...इस वाद्य के एक सिरे पर किसी पशु, जो निश्चित रूप से भैंसा ही है, के सिर की आकृति बनी होती है, जिसके सींग ढोल के साथ पीछे की ओर रहते हैं। आओ नागा यद्यपि असली तथ्य को अब भूल चुके हैं और भैंसे के इस सिर को वे ढोल का सिर ही मान बैठे हैं। आज भी इस सिर को अपने ढोल में वे इसलिए बनाते हैं क्योंकि उनके पुरखे इसी तरह बनाते थे। न केवल सिर बल्कि उसके सींग भी उन्होंने अपने ढोल

के दो हाथ मान लिये हैं। भैंसे की जीभ पर भी प्रायः मानव-मुखाकृति कढ़ी होती है जिसके द्वारा मानो वे इस ढोल का और अधिक मानवीयकरण करना चाहते हों। यह ढोल सबसे ऊपर झिरी पर बजाया जाता है। ढोल पीटते समय 'मोरुंग' के पुरुष और लड़के इसकी बगल में पंक्तिबद्ध खड़े हो जाते हैं। यह हृष्टपुष्ट व्यक्ति दो लीवरों को ढोल पर गिरा गिराकर लय देता है जबकि दूसरे व्यक्ति लकड़ी के बड़े बड़े मुद्‌गरों से झिरी की धार पर प्रहार करके ढोल को बजाते हैं। जिस तरह पीटकर इसे बजाया जाता है उसी के आधार पर इसे पीटकर किसी खतरे का संकेत किया जा सकता है, कोई बलि समारोह मनाया जा सकता है अथवा किसी उत्सव का हर्षोल्लास व्यक्त किया जा सकता है।" इस वाद्य के बारे में मिल्स की टिप्पणियां भी रोचक हैं। उदाहरण के तौर पर उन्होंने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि लकड़ी का यह झिरीदार ढोल बहुत संभव है कि फिजी के पपुआ में पायी जाने वाली डोंगियों या नावों के किनारों को पीटकर बजाने से मिली प्रेरणा का परिणाम हो। इन नावों को खेने वाले चप्पू ही उक्त वाद्य को पीटने वाली छड़ी के रूप में विकसित हो गये होंगे। एक संभावना यह भी है कि खाना रखने के काम आने वाला या फिर शराब बनाने के काम आने वाला कूंडा और उसकी कलछी, जोकि सोंगकोंग के ही समान दिखायी देते हैं, इस वाद्य में परिणत हो गये हों।

स्लिट ड्रम (झिरीदार ढोल) का एक सफरी रूपांतर भी देश के कुछ भागों में पाया जाता है। यह लगभग 45 सेंटीमीटर लंबा बांस का एक टुकड़ा होता है, जिसमें झिरी बनी रहती है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि बांस की दो गांठों के बीच की छाल के एक हिस्से को काफी पतला कर लिया जाता है। सूखा हुआ बांस क्योंकि स्वतः खोखला होता है, अतः उसे खोखला करने की जरूरत नहीं पड़ती और इस प्रकार गूंज की समस्या अपने आप हल हो जाती है। भारत के उत्तर-पूर्व में इस वाद्य को **ताक दुतरंग** कहते हैं।

कटोला, 'स्लिट ड्रम' का एक और प्रकार है। मध्यप्रदेश के आबुज मारिआ अपने संगीत और नृत्य में इस वाद्य का प्रयोग करते हैं। यह भी लकड़ी का विषम-चतुर्भुजाकार खोखला वाद्य है, जो आकृति तथा लंबाई-चौड़ाई की दृष्टि से कुछ कुछ सूप (अनाज आदि फटकने के काम आने वाला पात्र) जैसा दिखाई देता है। लंबाई की ओर यह खुला रहता है ताकि उस तरफ की तंग झिरी के माध्यम से अंदर से उसे खोखला किया जा सके। यह वन-वाद्य वादक के गले में लटका रहता है और इसे छड़ियों से पीटकर बजाया जाता है।

हमारे सांगीतिक खंभे तथा मूर्तियां उस वास्तुशिल्पीय एवं मूर्तिकला संबंधी प्रतिभा के उदाहरण हैं जिसने पत्थर तथा धातु से निर्मित हमें ऐसे कीमती नमूने दिये हैं जो न केवल देखने में सुंदर हैं, बल्कि संगीत की दृष्टि से भी मूल्यवान हैं। दक्षिण के अनेक मंदिरों में ऐसे प्रस्तर-वाद्य तथा धातु-वाद्य हैं जिन पर आघात करने से नियमित

ध्वनियां सुनायी पड़ती हैं, इस कारण इन्हें पत्थर या धातु से बने संगीत-वाद्य ही कहा जाना चाहिए। इन खंभे रूपी वाद्यों के श्रेष्ठ नमूने हम्पी (कर्नाटक), ताड़पत्री व लेपाक्षी (आंध्र) एवं तमिलनाडु के मदुराई, तिरुनालवेलि, अलगर कोइल, तेन्काशि, कोर्टालम, आलवार तिरुनगरी तथा सुचिंद्रम् स्थानों पर देखे जा सकते हैं। तिरुनवेलि के एक मंदिर का मंडप (भक्तगणों के एकत्रित होने का कक्ष) इस सिलसिले में विशेष रोचक है। इसमें अनेक खंभे हैं, जिनमें से हरेक में खुदे हुए पचास पचास छोटे खंभे हैं। तंजावुर में भगवान गणेश की एक लघु सांगीतिक प्रतिमा तथा नंगुनेरि (तमिलनाडु) में शृंगार व प्रेम के देवता मन्मथ एवं रति की विशाल प्रतिमाएं उपलब्ध हुई हैं। इन खंभों व मूर्तियों की कोई सांगीतिक उपयोगिता भी रही होगी, इस बारे में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है, क्योंकि इनसे उत्पन्न होने वाली ध्वनियों में न तो स्वरों की वैसी निश्चित तारता उपलब्ध होती है जैसी हमारे संगीत के लिए आवश्यक है और न गुणात्मक दृष्टि से ही वे बहुत समृद्ध हैं। साथ ही उनकी बनावट खासतौर पर उस हालत में जब उन्हें समूह रूप में बनाया गया है, उनके कलापूर्ण वादन में बाधा पहुंचाती है। इसलिए ये कलाकृतियां ही हैं, हालांकि इनकी ध्वनियों के स्वरूप व तारता को जानने के लिए आजकल वैज्ञानिक खोजें भी चल रही हैं।

आधुनिक वाद्य-वृंदों तथा आर्केस्ट्राओं में कभी कभी काष्ठतरंग नामक वाद्य भी दिखायी पड़ता है। हमारे कबीलाई या लोक-वाद्यों में इससे मिलता जुलता ऐसा कोई वाद्य नहीं मिलता, जिससे इसके विकास की संभावना की जा सके। इस कारण बहुत संभव है यह कोई विदेशी वाद्य रहा हो जिसका भारतीय नामकरण कर दिया गया हो। काष्ठतरंग का जो रूप आज उपलब्ध है उसमें भिन्न भिन्न लंबाई तथा मोटाई की लकड़ी (काष्ठ) की अनेक पट्टियां होती हैं जो थोड़े-बहुत ढीलेपन के साथ एक फ्रेम में जड़ी रहती हैं। ध्वनि को उपयुक्त गूंज तथा मात्रा (वॉल्यूम) प्रदान करने के लिए प्रत्येक पट्टी के नीचे निश्चित लंबाई और व्यास की एक नली जुड़ी रहती है। लकड़ी की ये पट्टियां नीचे से ऊपर के स्वर की ओर बढ़ने वाले क्रम में व्यवस्थित रहती हैं। इन पट्टियों पर दो छड़ियों द्वारा आघात करके सांगीतिक ध्वनि निकाली जाती है। इंग्लिश में **ज़ाइलोफ़ोन** नाम से पुकारे जाने वाले इस वाद्य का आरंभिक रूप अफ्रीका के जंगली मनुष्यों के पास मिलता है। इसका सबसे पुराना सीधा सादा रूप कुछ इस प्रकार होता है – एक औरत अपनी टांगों को सामने की ओर फैलाकर व चौड़ा कर बैठती है, उसकी दोनों टांगों पर कई एक पत्थर की पट्टियां आड़ी-आड़ी रखी रहती हैं, जिन्हें पीटकर कामचलाऊ आवाज निकाली जाती है। इसी वाद्य का अधिक परिष्कृत रूप इंडोनेशिया के **गंबंग** नामक वाद्य में दिखायी देता है। इसमें पत्थर की पट्टियों की जगह अच्छी तरह स्वर में मिले हुए लकड़ी के टुकड़े होते हैं, जो एक फ्रेम में लगे रहते हैं। इसी देश के लोगों के पास धातु के 'ज़ाइलोफ़ोन' भी पाये जाते

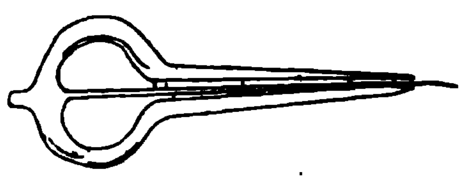
हैं, जिनमें लकड़ी के स्थान पर धातु की पट्टियां लगी होती हैं, इन्हें **सरोन** कहते हैं। भारतीय वादक भी कभी कभी **नल-तरंग** नामक वाद्य बजाते हैं, जिसमें चपटी पट्टियों के स्थान पर धातु की नलियां लगी रहती हैं।

आसाम का **टॉक्का** एक आदिम घन-वाद्य है, जिसके सांगीतिक और असांगीतिक दोनों तरह के इस्तेमाल हैं। यह एक मीटर या इससे कम लंबा बांस का टुकड़ा होता है, जिसके एक सिरे को साबुत छोड़कर शेष भाग में लंबाई में दरार बनी रहती है। साबुत सिरे पर नली के किनारों को काट छांटकर हैंडिल बना लिया जाता है। **टॉक्का** के इस हैंडिल को पकड़कर दूसरे हाथ पर या तो खड़खड़ाया जाता है या फिर पीटा जाता है, परिणामतः दरार वाले दोनों हिस्से आपस में टकराने लगते हैं। जहां एक ओर यह लोक संगीत और नृत्य में प्रयुक्त होने वाला वाद्य है, वहीं दूसरी ओर शिकारियों के एक यंत्र के रूप में भी इसका इस्तेमाल होता है। उदाहरण के लिए मैसूर के कुछ हिस्सों में हाथियों का शिकार करने वाले लोग अपेक्षाकृत ऐसा ही एक छोटा यंत्र व्यवहार में लाते हैं। हाथी के शिकार जिसे स्थानीय भाषा में खेड्डा कहा जाता है, के दौरान कुछ लोग, जिनमें से हरेक के पास यह यंत्र रहता है, उन वन मार्गों को चारों ओर से घेर लेते हैं जहां पर बीहड़ में जानवर रहते हैं। इसके बाद चीखने के साथ साथ वे उक्त यंत्रों को जोरों से पीटना और खड़खड़ाना शुरू कर देते हैं। इससे हाथी भयाक्रांत होकर दौड़ने लगते हैं। लेकिन उनके चारों ओर बड़ा-सा घेरा बनाकर खड़े शिकारी अपना घेरा छोटा करते जाते हैं और अंत में उन हाथियों को हांककर विशेष बाड़ों के अंदर ले जाते हैं।

टॉक्का का एक और प्रकार है, जिसमें तार भी लगे हुए हैं, यह है त्रिपुरा का **लेबंग गुमानी**। (1) (इसका संक्षिप्त विवरण हम पहले ही दे चुके हैं।)

दंड (रॉड) – इस परिवार के घन-वाद्यों में उत्कृष्ट सांगीतिक महत्व का एक वाद्य है **मूर्सिंग** या **भूर्चंग**। इसे इंग्लिश में **जूज़ हार्प** या **जॉज़ हार्प** कहकर पुकारा जाता है, हालांकि 'हार्प' नामक वाद्य से यह बिल्कुल ही मिलता जुलता नहीं है। यह सात-आठ सेंटीमीटर लंबाई का एक छोटा-सा लोक-वाद्य है, जो राजस्थान में अथवा उत्तरप्रदेश के ब्रज क्षेत्रों में पाया जाता है। किंतु दक्षिण भारतीय संगीत सभाओं में मृदंग, घट तथा खंजीरा वाद्यों के साथ सहायक ताल-वाद्य के रूप में इसका बहुत इस्तेमाल होता है। आसाम के **गगाना** तथा कबीली वाद्यों के कुछ विशिष्ट नमूनों की तरह अपने सरलतम रूप में यद्यपि यह बांस का बना होता है, लेकिन प्रचार में लोहे का बना ही अधिक है, जो कुछ कुछ भगवान शिव के तीन कांटेवाले त्रिशूल जैसा दिखायी देता है। इस वाद्य का मुख्य चौखटा गोलाकार होता है, जिसका वृत्त पूरा नहीं होता। इस अधूरे वृत्त के दोनों अंतिम छोर दो लंबे कांटों के रूप में बाहर निकले रहते हैं। इन दोनों कांटों के बीच की जगह में एक पतली जीभ रहती है, जिसका एक सिरा चक्र के भीतरी हिस्से से जुड़ा रहता है और दूसरा सिरा मुक्त होता है। दोनों कांटों

से यह थोड़ी-सी अधिक लंबी भी होती है। वादक मूर्चंग को एक हाथ से पकड़कर उसके दोनों कांटे वाले स्थल को अपने दांतों के बीच मजबूती से पकड़े रहता है। अब वह दूसरे हाथ की ऊंगलियों से दोनों कांटों के बीच वाली जीभ को झंकृत करता है। वादक का मुख इस क्रिया में गूंज उत्पन्न करने वाले अनुनादक का कार्य करता है। इस प्रकार मुख की आकृतियां बदल-बदलकर तथा सांस पर नियंत्रण रखते हुए वादक अत्यंत परिष्कृत एवं कोमल ध्वनियां पैदा करता है। हिंदी साहित्य में इस वाद्य को **मुख-चंग** भी कहा गया है, क्योंकि यह मुख अर्थात् मुंह में रखकर बजाया जाता है। चतुर्भुजदास और सूरदार के काव्य में इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं। अहोबल-रचित संस्कृत-ग्रंथ संगीत-पारिजात में भी इसे मुख-चंग ही कहा गया है। (3)



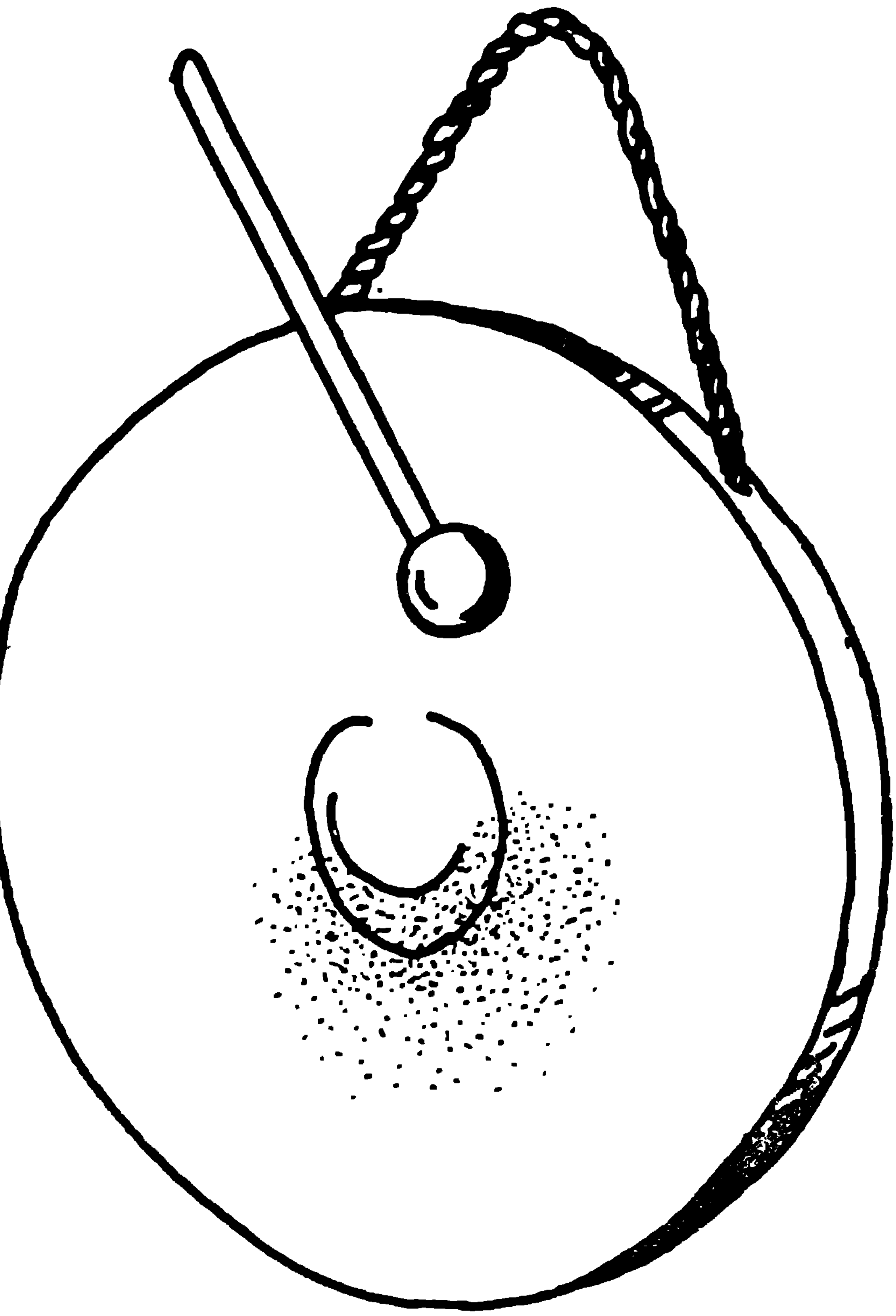
3. मुख-चंग

किरिकिट्टक अथवा उसकी विविध किस्में हमारे आदिम वाद्यों में से एक हैं। इंग्लिश में किरिकिट्टक को **स्क्रेपर** (खुरचनी), **रास्प** (मोटी रेती) या **स्ट्रिड्यूलेटर** (घर्षण-ध्वनि करने वाला यंत्र) कहा गया है। संगीत-वाद्यों का विकास दिखाते समय हम पहले भी इसका जिक्र कर चुके हैं। यह भी उल्लेख किया जा चुका है कि अग्नि उत्पन्न करने की आदिम क्रिया में काम आने वाले उपकरण से यह कितना मिलता जुलता है। आमतौर पर स्क्रेपर के मुख्य हिस्से पर दांते होते हैं, जिन पर एक छड़ी से घर्षण किया जाता है। ऐसा करने से एक प्रकार की भयानक आवाज पैदा होती है। **स्क्रेपर** न केवल भारत में, बल्कि संसार के अन्य दूरस्थ देशों में भी पाये जाते हैं। चीन में **यू** नामक वाद्य ऐसा ही है जो वाद्य की-सी आकृति का होता है, विशेषकर इसकी रीढ़ की हड्डी देखने योग्य है। मैक्सिको में पाया जाने वाला एक हड्डी का बना **रास्प** (रेती) भी है, जिसे वे लोग **ओमिचिकाहुआग्त्ली** कहते हैं। हमारे अपने देश में इस वाद्य की अनेक किस्में मिलती हैं। इनमें **रुगा ब्रेया, दोड्डु राजनु, कोक्कर** तथा अन्य अनेक नाम गिनाये जा सकते हैं। ये सभी कबीलाई वाद्य हैं और लोहे की नली वाले एक **कोक्कर** वाद्य को छोड़कर अन्य सभी बांस के बने होते हैं। लगभग 50 सेंटीमीटर लंबे ये बांस के खोखले टुकड़े होते हैं, जिनकी सतह पर ढेरों आड़े-तिरछे दांते उभरे होते हैं। इसकी दीवार में प्रायः एक छोटी-सी दरार भी कर दी जाती है, जिससे स्ट्रिड्यूलेटर से अधिक गूंज उत्पन्न हो सके। सावराओं के **रगब्द राजन** वाद्य की तरह अधिक गूंज पैदा करने के लिए कभी कभी इसमें एक तूंबा भी लगा देते हैं। रगब्द राजन का सावरा जनजाति में विशेष महत्व है। वेरियर एल्विन ने इस वाद्य का जो वर्णन किया है, उसके अनुसार किरिकिट्टक की एक खास किस्म है...शादियों में जिसका प्रयोग किया जाता है। दांतेदार बांस गोल लौकी के बने तूंबे या खपरे में फिट रहता है, जिसे मोर-पंखों से भी सजाया जाता है। बाराती लोग

इसे बजाते हुए दुल्हन के घर जाते हैं। वहां पहुंचकर दूल्हा इसके तूंबे में शराब भरकर अपने ससुर को पेश करता है। उसे पीकर ससुर साहब तूंबे को पुनः शराब से भरते हैं और अपने होने वाले दामाद को देते हुए कहते हैं, 'आज मैं अपनी बेटी तुम्हें देता हूं। अगर कभी मैं अपना वचन तोड़ूं तो यह तूंबा, यह बांस और ये मोर पंख साक्षी होंगे'। ऐसा लगता है कि कबीलाई एवं लोक-नृत्यों में इस किरिकिट्टक का विशेष इस्तेमाल रहा है, खासकर उन नृत्यों में जिनका संबंध झाड़फूंक से तथा कुछ विशेष शैवायत नृत्यों से रहता है। मिसाल के तौर पर, तेरहवीं शताब्दी में आंध्रप्रदेश के वीर-रस-लेखक जय ने अपने संस्कृत-ग्रंथ 'नृत्तरत्नावली' में शिव-प्रिया नामक एक ऐसे देसी नृत्य का वर्णन किया है, जिसे शिवोत्सवों में शिव के भक्तों द्वारा प्रस्तुत किया जाता था। नर्तक और नर्तकियां अपने शरीर को पवित्र भस्म से पोत लेते और रूद्राक्ष के दानों की माला पहन लेते थे। मृदंग व करत (शहनाई) के साथ साथ किरिकिट्टक वाद्य लगभग आठ सेंटीमीटर से अधिक चौड़ी तथा एक मीटर से कुछ ज्यादा लंबी एक ऐसी धातु की नली के रूप में वर्णित है, जिसके एक सिरे की शक्ल सांप के फन जैसी बनी होती है। इसकी दांतेदार सतह को एक कोण से रगड़ा जाता था। ग्रंथों में वर्णित और मूर्तियों में बने इन वाद्यों में काफी समानता मिलती है। किंतु **सुक्ति-वाद्य** नाम से इसकी कोई संगति नहीं बैठती क्योंकि **सुक्ति** का अर्थ होता है **कौड़ी**। लेकिन जब कोई ग्रंथों व मूर्तिकला में प्राप्त उदाहरणों एवं वास्तविक वाद्यों के नमूने देखता है तो उसे कौड़ी कहीं नहीं दिखायी देती। बहरहाल आसाम का **रापोनि** वास्तव में सुक्ति-वाद्य ही है। यह नली नहीं बल्कि बांस की एक मीटर लंबी दांतेदार छड़ी मात्र है। इसे कुछ कुछ वायलिन की तरह पकड़ा जाता है और उसी हाथ में पकड़ी हुई एक कौड़ी को बांस के दांतों पर तेजी से ऊपर नीचे चलाया जाता है। कर्नाटक के तेरहवीं शताब्दी के अनेक हुइसल मंदिरों में किरिकिट्टक-वादकों की अद्भुत प्रतिमाएं देखी जा सकती हैं। कुछ और सादा किस्म के रेतीदार वाद्य अजंता और एलोरा के भित्तिचित्रों व उभारदार चित्रों में प्राप्त हुए हैं, जिनका समय ईसा की 5 वीं और 7 वीं शताब्दी के बीच निश्चित किया जा सकता है।

कबीलाई व लोक संगीत में ही भिन्न भिन्न आकृतियों व आकारों की तश्तरियों का संगीत वाद्यों के रूप में आम इस्तेमाल होता रहा है। कथकलि-मंडली को छोड़कर ये परिष्कृत संगीत में शायद ही कहीं दिखायी देती हों। अलबत्ता भक्ति-गायन में इनका उपयोग जरूर होता है। इस वाद्य की भी बहुत सी किस्में हैं, हालांकि ये सभी किस्में निरपवाद रूप से घंटा-धातु, जो कांसे का ही एक विशेष प्रकार है, की बनी होती हैं। धातु के सादा घंटे इस वाद्य का सरलतम रूप हैं, जिन्हें उसी हाथ में जिसमें कि घंटा है या फिर दूसरे हाथ में पकड़ी हुई छड़ी से पीटा जाता है। इस वाद्य के उदाहरणों में उत्तरी भारत की थाली, कर्नाटक व आंध्र प्रदेश के दास (दासरी) भिखारियों के काम आने वाला जागटे या जागंटे, कथकलि-मंडलियों में बजाया जाने वाला चेन्कला

या **चेन्नला** तथा तमिलनाडु का **शैम्माड़ंगलप्** आदि के नाम लिये जा सकते हैं। उक्त सभी वाद्यों की सतह एकदम समतल या सपाट होती है। लेकिन उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में पाया जाने वाला **सीमू** नामक वाद्य एक विशाल घंटा (घड़ियाल) है। जिसके मध्य



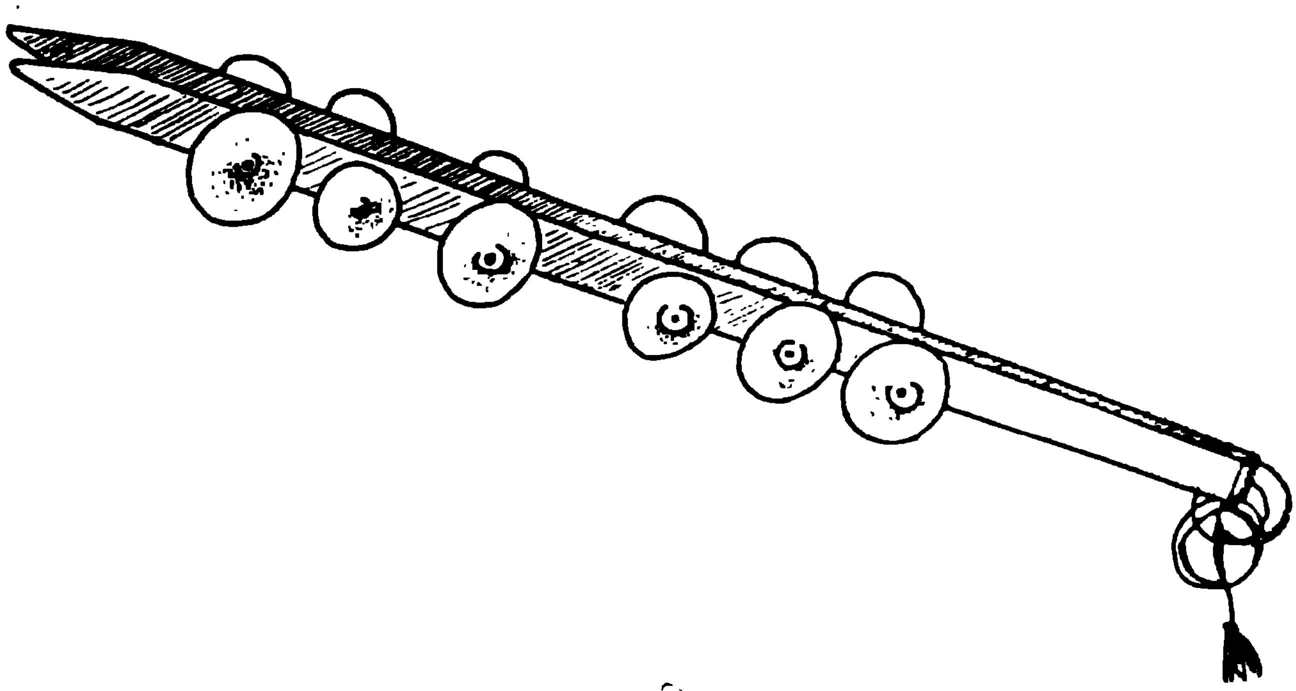
4. सीमू

में एक छोटा-सा उभार है। इन वाद्यों की परिधि में या फिर प्लेटों के उठे हुए किनारों में दो छिद्र होते हैं, जिनमें डोरी पड़ी रहती है। इसे हाथ में पकड़ा जाता है, ताकि प्लेट नीचे की ओर सीधी लटकी रहे और फिर छड़ी से पीटकर इसे

बजाया जाता है। सीमू की ही तरह ज्यादातर थालियों के किनारे ऊपर की ओर उठे रहते हैं। वस्तुतः ये खाना खाने की तश्तरियां ही हैं, जिन्हें वाद्यों के रूप में परिणत कर दिया गया है। इन थालियों को जमीन पर इस प्रकार रख दिया जाता था कि उनके उठे हुए किनारे जमीन को छूते रहें और फिर हाथों से उन पर आघात किया जाता था। (4)

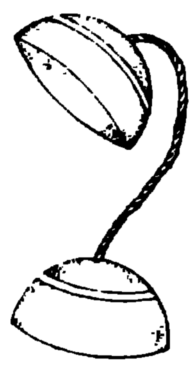
राजस्थान का एक लोक-वाद्य है **श्रीमंडल**। यह लगभग डेढ़ मीटर ऊंचा धातु का एक ढांचा होता है, जिसमें कई प्लेटें लटकी रहती हैं। ये प्लेटें भिन्न भिन्न मोटाई तथा व्यास की होती हैं और भिन्न भिन्न तारता के सांगीतिक स्वर उत्पन्न करती हैं। काष्ठतरंग, नलतरंग तथा ऐसे ही अन्य तरंग-वाद्यों की तरह इस वाद्य को थालीतरंग भी कहा जा सकता है। यह ताज्जुब की बात है कि ठीक इसी तरह का एक वाद्य चीन में भी पाया जाता है, जिसे वे **युन लो** कहते हैं।

उत्तर भारत के विभिन्न हिस्सों में दिखायी देने वाला चिमटा झंकार करने वाला एक वाद्य है, जिसमें धातु के पतले चक्र लगे रहते हैं। यह एक मीटर लंबा लोहे का चिमटा होता है, जिसकी दोनों भुजाओं पर पीतल के छोटे छोटे चक्कों के समूह थोड़े ढीलेपन के साथ कसे रहते हैं। भजन, लोकगीत और नृत्य की ताल व लय के साथ इसे या तो हिलाकर या हाथ पर मारकर संगति की जाती है। (5)



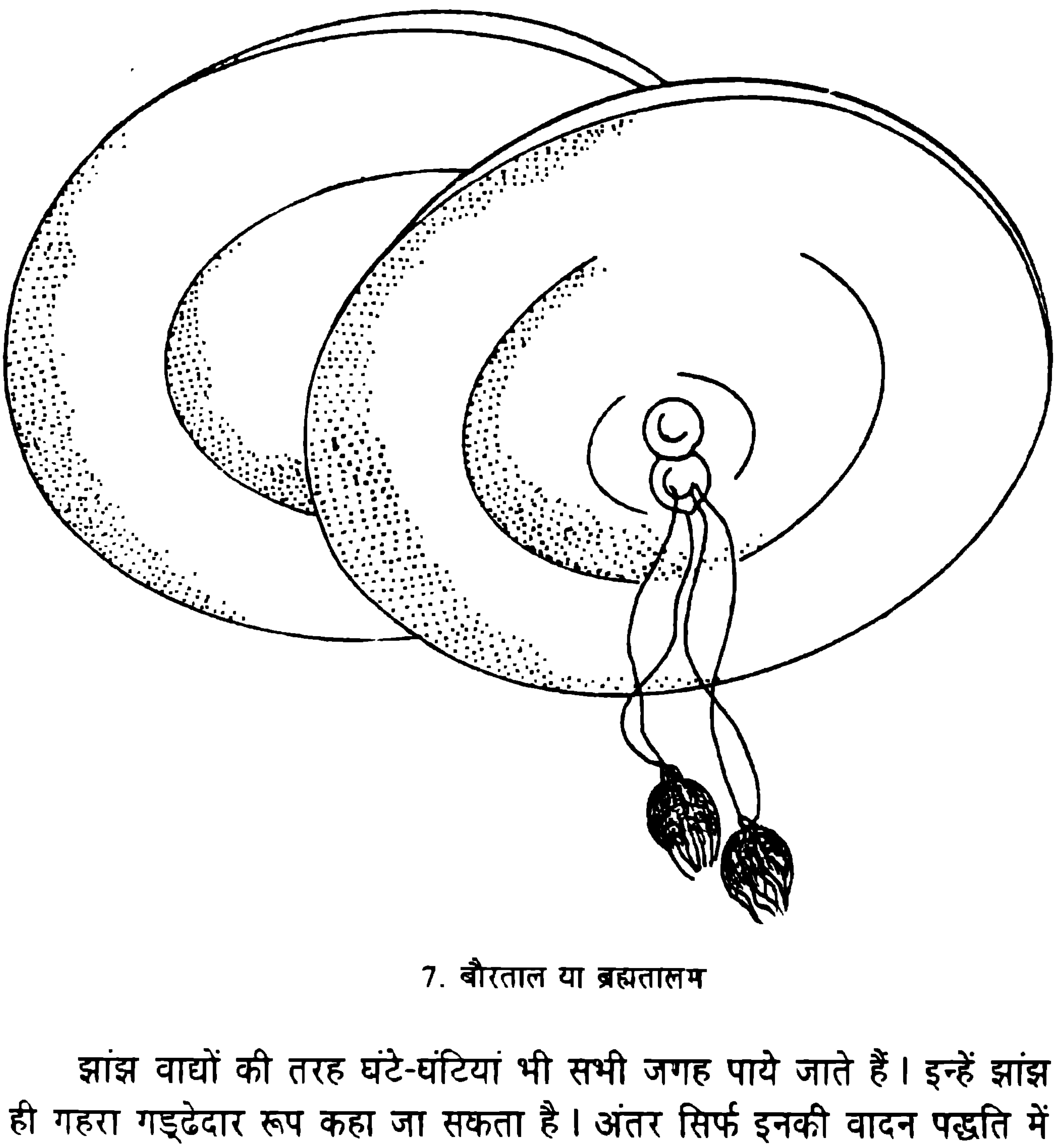
5. चिमटा

तश्तरी को बीच में से थोड़ा उभार देने पर झांझ व मजीरे बन जाते हैं। आकार व धातु की भिन्नता के आधार पर इनकी अनगिनत किस्में हैं। पांच सेंटीमीटर व्यास के **मजीरा** या **जाल्रा** से लेकर 30 से भी अधिक सेंटीमीटर व्यास वाले आसाम के **बौरताल** तक इनकी सभी किस्में कांसे या पीतल की बनी होती हैं। लगभग समतल प्लेट से लेकर गहरी घंटी की आकृतियों तक इन वाद्यों के बीच का उभार भी भिन्न



6. मजीरा या जाल्रा

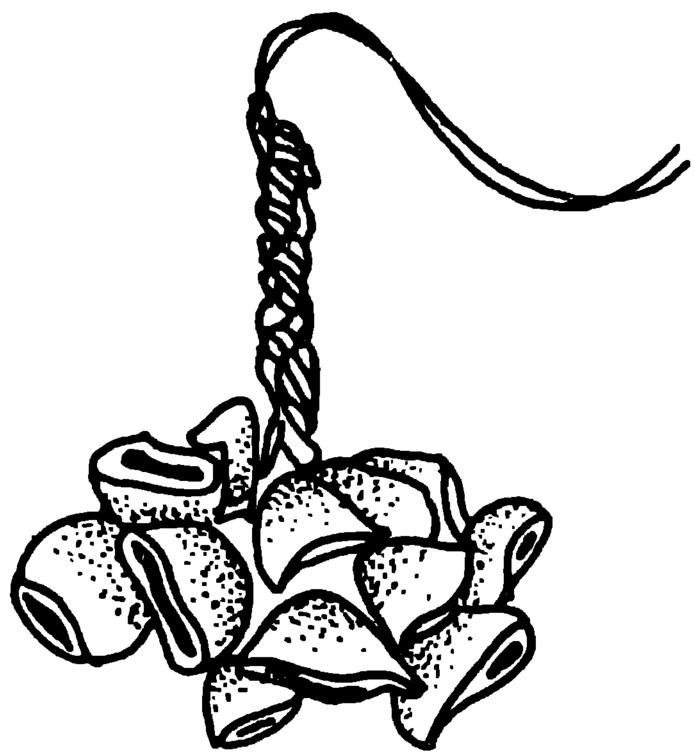
भिन्न मात्राओं में पाया जाता है। इन सभी किस्मों के नाम भी भिन्न भिन्न हैं। सामान्यतः छोटे आकार वाली किस्मों में **जाल्रा, झल्लरी, करताल, ताली, तालम्, एलन्तालम्, कुझित्तालम्** आदि के नाम लिए जा सकते हैं और अपेक्षाकृत बृहदाकार किस्मों को **झांझ, झल्लरी, बृहत्तालम्, ब्रह्मतालम, बौरताल** तथा कुछ अन्य नामों से पुकारा जाता है। सैलानी गायक-मंडलियों, हरिकथा गाने वाले कलाकारों, भक्ति-सभाओं, नर्तकों एवं भिखारियों के साथ यह वाद्य देश के हर हिस्से में पाया जाता है। इतिहास की दृष्टि से इस वाद्य के प्राचीनतम नमूने सिंधु-घाटी की खुदाई में तथा उसी के समकालीन वैदिक ग्रंथों में प्राप्त हुए हैं, जहां इसका **आघाटी** नाम से उल्लेख हुआ है। (6,7)



7. बौरताल या ब्रह्मतालम

झांझ वाद्यों की तरह घंटे-घंटियां भी सभी जगह पाये जाते हैं। इन्हें झांझ का ही गहरा गड्ढेदार रूप कहा जा सकता है। अंतर सिर्फ इनकी वादन पद्धति में है।

झांझ-मजीरों को आपस में किनारों पर अथवा एक के किनारे से दूसरे की सतह पर अथवा दोनों की सपाट सतहों पर टकराकर बजाया जाता है और अकेले ही बजने वाले तथा गहरे गड्ढे या उभार वाले घंटी-वाद्य को हिलाकर (क्योंकि इसके अंदर इधर उधर टकराने वाला धातु का एक टुकड़ा लटका रहता है) अथवा इसके किनारों पर छड़ी से आघात करके बजाया जाता है। कुछ ऐसे घंटे होते हैं, जिनके किनारों पर प्रहार करने से लगातार उच्च तारता वाली ध्वनि निकलती रहती है। इस बात की पूरी संभावना है कि घंटीनुमा वाद्यों का सबसे पहला रूप सूखे हुए फलों के खोल व फूलों की कलियां रही होंगी। कबीलाई लोगों द्वारा व्यापक रूप से बीजों के झुनझुने इस्तेमाल किये ही जाते हैं। उदाहरण के लिए, आंध्र के चेंचुओं में पाया जाने वाला **गिलबड़ा** एक ऐसा ही वाद्य है। यह एक सूखा हुआ फल होता है और ऐसे कुछ फलों को इकट्ठा कर साथ साथ बांधकर उन्हें लय-ताल में हिलाया जाता है। मध्यप्रदेश के बैगा लोग जब नृत्य करते हैं तो सूखे हुए कद्दुओं का समूह अपनी कमर में बांध लेते हैं। दरअसल, फल के अंदर का गूदा जब सूख जाता है तो उसके बीज मुक्त हो जाते हैं और ऐसे में उसे हिलाने पर झुनझुने जैसी आकर्षक ध्वनि निकलती है। औराओं जाति के लोग कनियारी फल का प्रयोग करते हैं। पंखों से सुसज्जित एक लंबे बांस से कनियारी या चंपा के सैंकड़ों सुखाये हुए खोल बांध दिये जाते हैं। नृत्य के समय वह बांस जमीन पर ठोक ठोककर बजाया जाता है। नारियल का खोल झुनझुना जैसे लोक-वाद्य की ही एक और किस्म है। थोड़े से बीज या कंकरी अंदर डालकर इसके मुंह को बंद कर दिया जाता है। नारियल के खोपरे में आमतौर पर एक मूठ भी लगी होती है जिसे पकड़कर इसे हिला-हिलाकर बजाया जाता है। ये सभी आदिम और प्राकृतिक झुनझुने निश्चय ही उन धातु तथा लकड़ी के बने परिष्कृत झुनझुनों के आरंभिक रूप रहे होंगे, जो प्रायः बच्चों के झुंझनी, खुलखुला, खुंखुना और **गिलकी** नामक खिलौनों के रूप में दिखायी पड़ते हैं। (8)



8. गिलबड़ा

यह कल्पना करना अब हमारे लिए कठिन नहीं कि घुंघरू इन प्राकृतिक सूखी कलियों की ही अनुकृति हैं। पांव में बांधे जाने वाले घुंघरुओं, जिन्हें दक्षिण में **गेज्जे**

कहा जाता है, की शक्लें तो बिल्कुल कली के समान होती हैं, अतः इनकी विकास प्रक्रिया स्वतः स्पष्ट है। मंदिरों में पूजा के समय बजायी जाने वाली और लोक-नर्तकों तथा विशेष रूप से पिशाच-नर्तकों द्वारा प्रयोग की जाने वाली घंटियां भी फूल की शक्ल में धातु की बनी होती हैं। इनके भीतर लटकने वाली जिह्वा (लोलक) की प्रेरणा स्पष्टतः फूलों के ही गर्भकेसर से मिली होगी। घुंघरुओं का बनाना एक मुश्किल काम है, अतः उनसे निश्चित तारता व गुणों वाली ध्वनियां ही उत्पन्न की जा सकती हैं। यही कारण है कि हमारे कला-संगीत में उन्हें महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिल सका। इसके बावजूद घुंघरू नर्तकों के अनिवार्य अंग हैं और उनके व्यवसाय के प्रतीक हैं। इनसे इन्हें लगभग इष्ट जैसा लगाव होता है। जब कोई नर्तक या नर्तकी व्यावसायिक कार्यक्रमों में प्रवेश करती है तो एक परंपरागत समारोह में उसे घुंघरू-बंधन संस्कार संपन्न करना पड़ता है। इसे दक्षिण में **गेज्जे पूजे** कहते हैं।

जहां गंभीर संगीत में सामान्यतः घंटी-वाद्यों को वह मान्यता नहीं मिल पायी है, वहां इन्हीं की शक्ल का एक अन्य वाद्य है जलतरंग, जो वाद्य वृंदों में ही सही, किंतु भलीभांति लोकप्रिय है। यह चीनी मिट्टी के कटोरों का एक समूह होता है। जितने स्वरों का प्रयोग वादन में करना होता है, वादक उतने ही कटोरे रख लेता है। ये सभी कटोरे, मोटाई, ऊंचाई तथा चौड़ाई में भिन्न होते हैं, क्योंकि इसी के आधार पर स्वर के तारत्व का निर्धारण होता है। निश्चित स्वरों में ढले होने के बावजूद इन्हें सूक्ष्म दृष्टि से वांछित स्वर में पुनः मिलाने के लिए कुछ निश्चित मात्रा में पानी इनके अंदर डाला जाता है, इसी कारण इस वाद्य का नाम जलतरंग रखा गया है। बीच में बैठा हुआ वादक पानी से भरे हुए इन प्यालों को सामने की ओर अर्द्धवृत्ताकार ढंग से व्यवस्थित कर देता है, जिनसे उन कटोरों के किनारों पर आघात करके वह धुन निकालता है। अपर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाणों की वजह से इस वाद्य की भारतीयता को संदेह से परे नहीं माना जा सकता। कहा जाता है कि अलेक्जेंडर जब भारत से मकदूनिया वापस जा रहा था तो कुछ जलतरंग-वादकों को भी अपने साथ ले गया था। जो भी हो, इस तथ्य का प्रमाणित होना अभी बाकी है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में एक उदक वाद्य का उल्लेख मिलता है, जो कुछ लोगों के अनुसार जलतरंग होना चाहिए। अपने उपदेश में वात्स्यायन एक जगह लिखते हैं, "स्त्रियों को इसलिए संपूर्ण कामशास्त्र की अथवा इसके एक अंग की शिक्षा अवश्य लेनी चाहिए। उन्हें कामकला का व्यावहारिक ज्ञान अपनी किसी विश्वस्त सहेली से प्राप्त करना चाहिए। चौंसठ कलाओं, जो कामशास्त्र का एक अंग हैं, का अध्ययन और अभ्यास उन्हें एकांत में ही करना चाहिए।"

भारतीय कला के अधिकांश विद्यार्थी चौंसठ कलाओं से परिचित हैं। वात्स्यायन इन्हें गिनाते हुए गायन, वादन, नर्तन, लेखन, चित्रकारी, गोदना, शय्या को सजाना आदि कलाओं का उल्लेख करते हैं। कामसूत्र के श्रमपूर्ण अध्ययन के साथ साथ गिनायी

गयी इन चौंसठ कलाओं में जल से भरे हुए प्यालों को बजाना भी शामिल है। बहरहाल, यह अनुवादक का लिखा हुआ वाक्य है। मूल ग्रंथ में सिर्फ 'उदक वाद्य' शब्द है, इसकी कोई व्याख्या नहीं दी गयी है। लेकिन 17 वीं शताब्दी के 'संगीत पारिजात' नामक ग्रंथ में तथा उससे भी लगभग एक शताब्दी पूर्व के हिंदी कवियों के काव्यों में इस वाद्य का सीधा उल्लेख हुआ है।

मिट्टी का घड़ा एक ऐसा वाद्य है जो लोक संगीत और शास्त्रीय संगीत दोनों में लोकप्रिय है। लोक संगीत में इस वाद्य की किस्में चिकनी मिट्टी या धातु की बनी होती हैं और उन्हें मटकी, गगरी तथा नोट आदि नामों से पुकारा जाता है। **नोट** सिंध व विशेष रूप से कश्मीर की घाटियों का वाद्य है और कश्मीर के **छकरी, रोफ़, सूफ़ियाना क़लाम** आदि खास किस्म की सामूहिक संगीत-शैलियों का अभिन्न अंग माना जाता है। यह एक मिट्टी का घड़ा होता है और वादक इसे अपने सामने जमीन पर रखकर या अपनी गोद में लेकर बैठता है। घड़े का मुंह ऊपर की ओर रहता है। स्वयं गायक इस ताल-वाद्य के मुंह एवं पार्श्व पर बहुत ही सीधे किंतु आकर्षक ताल में आघात करके अपने गायन की संगति करता है। कर्नाटक संगीत-सभाओं में आमतौर पर सुनायी पड़ने वाला **घटम्** नामक वाद्य बहुत कुछ नोट जैसा ही है, किंतु यह नोट का और उन्नत रूप है। इसे एक खास किस्म की चिकनी मिट्टी से बनाया जाता है, जिसे बड़ी सावधानी से गूंथते हैं। इस मिट्टी को घड़े की शक्ल देकर चारों ओर से समान आंच पर पकाया जाता है। घटम्-वादक अपनी कमीज उतारकर जमीन पर बैठता है। घड़े का मुंह वादक के पेट से लगा रहता है तथा घड़ा उसकी गोद में रखा रहता है। इसे मुंह पर नहीं बजाया जाता। घटम्-वादक घड़े के मुंह के सामने स्थित अपने पेट का कौशलपूर्ण उपयोग करके घटम् से विविध ध्वनियों को उत्पन्न कर सकता है।

अब तक के तमाम वर्णन से यह तथ्य बहुत स्पष्ट है कि घन-वाद्यों का प्रयोग कबीलाई और लोक संगीत में ही ज्यादा हुआ है। परिष्कृत सभा-संगीत की दृष्टि से इनमें बहुत कम वाद्य उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

हम यह भी देख चुके हैं कि घन-वाद्यों में ऐसे वाद्य बहुत कम हैं जो स्वरावली या मैलॉडी उत्पन्न कर सकें, उनमें से अधिकांश ताल-वाद्य ही हैं। यह कोई ताज्जुब की बात नहीं कि भारतीय शास्त्रीय संगीत में स्वरों की शुद्धता पर विशेष बल दिया गया है। जो इन घन-वाद्यों पर संभव नहीं है। दूसरी ओर घन-वाद्यों पर गमकों को भी प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, जिनसे रागदारी संगीत न केवल समृद्ध हुआ है, बल्कि उन पर आश्रित भी हो गया है। इसके अलावा हमारा रागदारी संगीत बहुत कुछ ऐसे स्वरों पर निर्भर करता है, जो देर तक कायम रह सकें। नाद की यह स्थिरता भी आम घन-वाद्यों में संभव नहीं है। अपनी इन्हीं सीमाओं के कारण वाद्यों का यह वर्ग एक हद तक ही सफलता प्राप्त कर सका है।

ढोल (अवनद्ध-वाद्य)

भारतीय संगीत साहित्य में मढ़े हुए यंत्रों को **अवनद्ध-वाद्य** कहा गया है। अवनद्ध का अर्थ है मढ़ा हुआ, अतः वे वाद्य जिनमें पात्र या ढांचा चमड़े से मढ़ा होता है, अवनद्ध-वाद्य कहलाते हैं। ढोलों के लिए हालांकि यह एक आम नाम है, परंपरागत रूप में इनके लिए अन्य नाम हैं, पुष्कर, जिसका अर्थ भी ढोल ही होता है। भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में इन पुष्करों की उत्पत्ति की कथा कही है। कथा के अनुसार एक महान संत स्वाति अपने आश्रम में स्नान करने के लिए एक सरोवर को गए। जब वे वहां थे तब भगवान इंद्र ने भारी वर्षा की। पुष्कर (कमल) की पत्तियों पर गिरने से इन बूंदों से बड़ी मधुर और सुरीली ध्वनि उत्पन्न हुयी। ऋषि ने मुग्ध होकर यह ध्वनि सुनी और कानों में गूंजते इस मधुर संगीत के साथ कुटिया में लौटे। देवशिल्पी विश्वकर्मा की सहायता से उन्होंने **पणव** और दर्दुर जैसे अनेक पुष्कर बनाए।

जैसाकि हम पहले पढ़ चुके हैं कि घन-वाद्य, संगीत सम्मेलनों में प्रयुक्त होने वाले सुविकसित यंत्रों में स्थान नहीं बना पाए हैं, लेकिन केवल ताल-वाद्य होते हुए भी ढोलों ने तत और सुषिर-वाद्यों की तरह अपना अलग स्थान बनाया है। इसका यह कारण है कि ढोल से एक निश्चित ध्वनि निकाली जाती है जैसाकि तबला या मृदंग में। इनके दैर्घ्य और आकृति में विविधता लायी जा सकती है। दीर्घ ध्वनि होने के कारण यह इडियोफोन से अधिक संगीतमय होते हैं। परंतु ध्वनि में पर्याप्त दैर्घ्य न होने और समान आवृति के न होने के कारण अवनद्ध-वाद्य सुरीले वाद्य नहीं बन सके। अतः इन्हें सर्वोत्कृष्ट **ताल-वाद्य** माना जाता रहा है।

ढोलों के विकास से जुड़ी और उनमें सहायक दो कलाएं हैं। काष्ठ कला और कुम्हारी। ढोल बनाने के प्रारंभिक तरीकों में से एक था, पेड़ गिराकर उसके अंदर की लकड़ी खुरच लेना और इस तरह आसानी से एक खोल मिल जाता था। इसके एक या दोनों ओर चमड़ा मढ़ कर ढोल बना लिया जाता था। शायद इस प्रकार के आदि वाद्य काफी बड़े रहे होंगे और पेड़ की तरह जमीन पर सीधे खड़े रहते होंगे। ऐसा होने पर केवल ऊपर का भाग ही मढ़ा जाना निश्चित था।

ऐसे ढोल आजकल भी कहीं कहीं पाए जाते हैं, जैसे आंध्रप्रदेश में **रोंजा या रुंज,** हालांकि लकड़ी की जगह अब पीतल का प्रयोग होने लगा है और आकार भी काफी कुछ शंकु जैसा होता है। अफ्रीका और मैक्सिको में लकड़ी के बेलनाकार ढोल पाए

गए हैं, जिनमें से कुछ की लंबाई तीन मीटर तक होती है। ऐसे ढोल अन्य आदिवासी इलाकों में अन्यत्र भी पाये जाते हैं। हमारे देश में लंबे ढोल, जो यद्यपि इतने लंबे नहीं होते और न भूमि पर रख कर बजाए जाते हैं, आसाम में खर्रम और आंध्र में रेड्डी लोगों द्वारा बजाए जाने वाले ढोल हैं। उदाहरण के लिए केरल में ताड़ या नारियल के पेड़ काट कर उनका तना खोखला किया जाता है और चमड़े से मढ़ दिया जाता है। लेकिन खराद जैसे यंत्रों के विकास से लकड़ी को भिन्न भिन्न प्रकार के पात्रों के रूप में आकार दिया जाता है जैसे, तबला और मृदंग।

इस वर्ग के वाद्य यंत्रों के विकास की एक अन्य दिशा **कुम्हारी** है। चाक के बिना भी मिट्टी के बर्तनों में आकार की विविधता और लोच है, जिसे लकड़ी में पाना सभव नहीं होता। इसी कारण मिट्टी के बर्तन और पात्र अनगिनत किस्मों में उपलब्ध हैं। मिट्टी के बने प्रारंभिक ढोल इसीलिए आकार और नाप में ऐसी विविधता लिए होते हैं जैसे गोलाकार पात्र, छिछले ढक्कन, लंबी गर्दन की सुराही आदि। खराद का आविष्कार होने तक, काष्ठ कला में मोटाई में समरूपता और महीन काम की संभावना ही नहीं थी जो कि कुम्हार के चाक पर संभव है और ढोल की उत्कृष्टता के लिए आवश्यक है। इस तरह हम घड़े के आकार के दर्दुर; ढक्कन जैसे ताशा और सुराही जैसे तुंबकनारी देखते हैं। यहां तक कि सुराही जैसे मृदंग को चाक पर आकार देना बढ़ई की अपेक्षा अधिक सुगम है। मिट्टी के पात्रों में हालांकि एक कमी है, वे जल्दी टूट जाते हैं। इसलिए ढोल बनाने की कला में पहले लकड़ी और फिर धातु का उपयोग हुआ। उदाहरणार्थ खोल अब भी मिट्टी के बनते हैं, मृदंग और पखावज लकड़ी से बनते हैं जबकि मृदंग शब्द से मिट्टी और कीचड़ से बने होने का आभास होता है। इसी प्रकार कुछ दशक पहले तक आमतौर पर डग्गा मिट्टी से बनता था, अब लकड़ी और प्रायः धातु का बना होता है।

एक और पहलू है जिस पर एक बार फिर ध्यान देने की आवश्यकता है। वह यह है कि अपने प्रारंभिक स्वरूप में ढोल पकाने या भंडारण वाले पात्र थे जो मढ़ देने पर अवनद्ध-वाद्य कहलाए। इस बात की पुष्टि इस प्रकार के अनेक वाद्यों के नाम से हो जाती है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण द्रविड़ भाषा में ढोल के **परा, पारे, पिरई** जैसे नाम हैं। लेकिन यही नाम अन्न के भंडारण एवं नापने में प्रयुक्त होने वाले बर्तनों के भी होते हैं। अतः ऐसे कार्यात्मक और विकासात्मक संबंध स्पष्ट दिखते हैं इसलिए आगे इनके विस्तार तथा वर्णन की आवश्यकता नहीं है।

मढ़े हुए वाद्य यंत्रों की एक और किस्म है जो अब हमारे संगीत की दुनिया से पूरी तरह लुप्त ही हो गयी है, मढ़ा हुआ गड्ढा। इसमें भूमि में एक गहरा खाली गड्ढा बना होता है जिसे छाल या पतले तख्तों से ढक दिया जाता था जिस पर संगीत और नृत्य के समय आदिवासी महिलाएं कूदती थीं। यह भूमि ढोल इंडोनेशिया, मलेशिया और सुदूर पूर्वी देशों में पाये गये हैं, लेकिन वैदिक साहित्य में भूमि दुंदुभी

नामक वाद्य का उल्लेख है, जो एक गड्ढा होता था जिसमें रोयेंदार हिस्सा ऊपर की ओर रखते हुए बैल की खाल से ढका जाता था और खाल को जमीन पर सब ओर से ठोक दिया जाता था। ढोल बजाने की छड़ी पशु की पूंछ होती थी जिसे ज्यों का त्यों रखा जाता था। यह भी बहुत संभव है कि पहले वर्णित लकड़ी के ढोलों से इस किस्म के भूमि ढोल अधिक प्राचीन हों।

अनेक कारणों से ढोलों का सदैव सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक महत्व रहा है। अनेक जनजातियों में उनसे जुड़े विशेष रिवाज हैं। आंध्र की बिसन पहाड़ियों के रेड्डी लोगों के साथ काम करने वाले पुयुरेर हाइमेन्डोर्फ कहते हैं कि ढोल ही ऐसा अकेला वाद्य है जिसके निर्माण के साथ समारोह जुड़ा है कोई रेड्डी जब अपने ढोल के लिए खोल बनाता है और उसे अंदर से खोखला करता है, चमड़े को सिर के ऊपर खींचता है, एक मुर्गा मारता है, छड़ को लाल गर्म करके खोल में एक छेद कर उसमें लहू टपकाता है तो कहता है, "हमारे छूने भर से इसकी आवाज हो, ऊंची हो और बहुत समय तक हो!" औरांओं में केवल ढोल ही नहीं अन्य यंत्रों से जुड़े हुए कुछ रिवाज हैं, "जब कोई औरां कोई नयी तलवार या ढाल या नगाड़ा या रुंज जैसा कोई संगीत यंत्र या नरसिंघा या बिगुल खरीदता है तब समारोहपूर्व उसे सिंदूर से पूजता है। इसे ढाल या ढोल या बिगुल का ब्याह (**बैंजा**) कहते हैं। औरां इन हथियारों या यंत्रों को रहस्यमय 'शक्तियों' से युक्त मानते हैं, जिनसे संबंध स्थापित कर वह उनके मन (रहस्यमय अशरीरी शक्ति) को या तो अपने अनुकूल कर सकते हैं या फिर कम से कम उस शक्ति को अहानिकारक बना लेते हैं। इस तरह की वस्तुओं का पहला उपयोग बड़ा जोखिम भरा माना जाता है, इसलिए सावधानियों के साथ और उपयुक्त विधि-विधान से ही किया जाता है। कुछ औरांओं में यहां तक कि एक नया कपड़ा भी पहनने से पहले हल्दी में रंगा जाता है। इसे भी कपड़े को 'ब्याहना' कहा जाता है।" बोहनी से संबंधित ऐसे रिवाज केवल जनजातियों तक सीमित नहीं हैं। प्रयोग के लिए खोलने से पहले प्रायः हरेक हिंदू नयी धोती या साड़ी को थोड़ी-सी हल्दी या कुंकुम लगाता है। उच्चतम स्तरों पर भी गोदी से जहाज निकालने, रेलवे लाइन के मुहूर्त आदि अवसरों पर वाहन को माल्यापर्ण कर नारियल फोड़ा जाता है। यह शायद पशु बलि की रीति का स्मृति शेष है।

वैदिक रीति में भी ढोल, विशेषकर दुंदुभि को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। अथर्ववेद में इसकी स्तुति है, एक लंबी ऋचा का अंश इस प्रकार है–

"ओ दुंदुभि, तुम हो जो वनस्पति से बने हो, ध्वनि में श्रेष्ठ हो, नायक हो, शेर की दहाड़ जैसे तुम्हारे घोष से शत्रुओं में भय उत्पन्न होता है, विजय की आकांक्षा होती है। जैसे गायों के बीच सांड विचरता है ऐसे ही शत्रुओं के बीच तुम निर्भय घूमते हो, मृगचर्म चढ़ी दुंदुभि से युद्ध के देवता शत्रुओं को डराते और पराजित करते हैं।" ढोल केवल युद्ध का ही वाद्य नहीं, शांति और धार्मिक रीतियों में भी वह बड़े

महत्व का है। उदाहरण के लिए रथों की दौड़ में उत्साह के संचार के लिए दुंदुभि बजायी जाती थी। सत्रह दुंदुभियां यज्ञ स्थल के निकट रखी जातीं, और वाजपेय यज्ञ के मध्य बजायी जातीं। वंशी-वादकों, ताल-वादकों और अन्य वादकों के साथ दुंदुभि-वादक भी पवित्र माने जाते और शरदकाल के महाव्रत मकर संक्रांति के अवसर पर उनकी बलि दी जाती। यह हालांकि अवश्य ही प्रश्न करने योग्य है कि क्या मानव शरीर की बलि दी जाती थी। वैदिक काल में नर बलि की प्रथा का प्रचलन संदेहास्पद है। भारत और विदेश में अनेक विद्वानों का यह मत है कि यज्ञ में देवताओं को कुछ पवित्र अर्पण करने के संदर्भ में 'बलि' का प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है।

ढोल की पूजा के कुछ प्रकार काफी बाद तक प्रचलित रहे। उदाहरण के लिए नाट्यशास्त्र में वर्णन है कि किस प्रकार अनेक प्रकार के मृदंगों की पूजा की जाए। हस्त और चित्रा नक्षत्र में शुक्लपक्ष के पवित्र दिन कला का विद्वान जो दुर्गुणों से मुक्त हो और संगीत तथा इसके सिद्धांत से सुपरिचित हो और पूजा के लिए पूरी तरह पवित्र हो, वह गाय के गोबर से लिपे स्थान पर तीन मंडल बनाए। ब्रह्मा के मंडल में आलिंग्य को रखे, रुद्र के मंडल में ऊर्ध्वक को रखे और विष्णु के मंडल में आंकिक को रखे। पहले पर मधु, हलवा और फूल चढ़ाए जाएं। आंकिक को अपूपा (गेहूं का मीठा पुआ) और लोचिका (पूड़ी) चढ़ायी जाए और ऊर्ध्वक को अपूपा, पिंड (अन्न का गोला) चढ़ाया जाए। चढ़ावे को धतूरे के फूल और करावीरा (कनेर) के फूलों से सजा कर लाल वस्त्र के साथ अर्पित करना चाहिए।

हिंदू मानस के लिए डमरू का नटराज शिव से अखंड अभेद संबंध है। जैसाकि एक आदि ग्रंथ में कहा गया है—"आदि नर्तक ने अपने नृत्य के अंत में सानक और अन्य योगिनियों को उत्थापित और रक्षित करने के लिए और अपने अप्रत्यक्ष रूप को प्रत्यक्ष करने को अपना डक्का (डमरू की एक किस्म) नौ और पांच बार बजाया। इनमें से चौदह भाषाओं और वाणी के सूत्र निकले जिनमें संगीत के भी सभी राग समाहित थे।" इस प्रकार डमरू की ध्वनि 'आदि नाद' का एक प्रतीक है जो सृजन और संहार दोनों को दर्शाता है और इस तरह अनेक तांत्रिक साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान पाता है।

ऊपर ढोल की तीन किस्मों से जुड़े रिवाजों के वर्णन में उनके रखने की स्थिति के अनुसार भरत ने भेद किये हैं। हम उसमें वर्णित कुछ शब्दों से परिचित हो लें—**ऊर्ध्वक-वाद्य** आड़े रखे जाते थे और संभवतः केवल ऊपर की ओर ही बजाए जाते थे (अगर वाद्य सीधा खड़ा है, तब बजाने के लिए केवल एक ऊपरी सतह ही उपलब्ध हो सकती है)। आज हमारे पास चैंदा, तबला और कुछ अन्य वाद्य हैं जिन्हें इस प्रकार बजाया जाता है। अंक्य किस्म के वाद्य क्षैतिज रूप में रख कर बजाये जाते थे। इसके आजकल के उदाहरण हैं —ढोलक, मृदंग, खोल आदि। **आलिंग्य-वाद्य** का आलिंगन किया जाता था अर्थात शायद उन्हें एक बांह में दबा कर

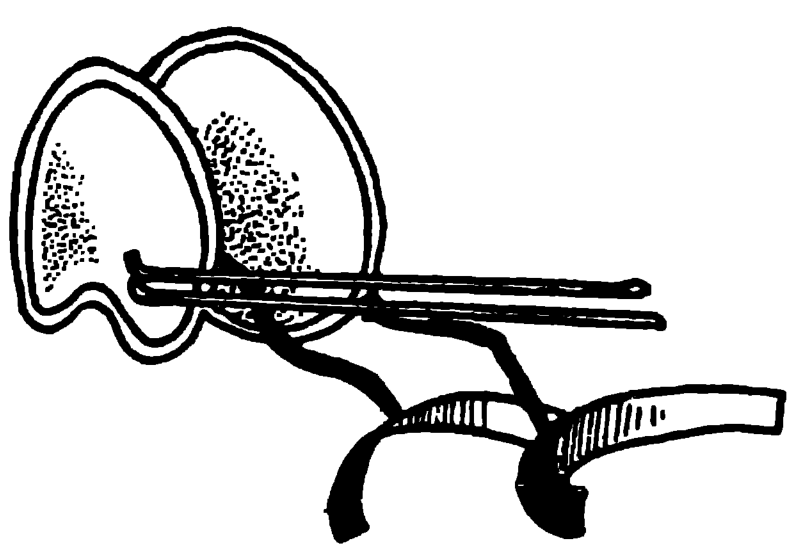
दूसरी से बजाया जाता था। अनेक विद्वानों का मत है कि यह वर्णन तीन अलग अलग वाद्यों का वर्णन नहीं है बल्कि तीन हिस्सों वाले मृदंग का वर्णन है, अर्थात् उन दिनों **मृदंग** से अभिप्रायः तीन वाद्यों से सामूहिक रूप से होता हो और उपरोक्त नाम उनके रखने की स्थिति को ही व्यक्त करते हों। ऐसी भी मूर्तियां और चित्र हैं जहां एक वादक को तीन वाद्य बजाते दिखाया गया है। लेकिन प्रायः एक जोड़ा आड़ा और एक क्षैतिज वाद्य दिखाया जाता है।

आकृति के आधार पर एक अन्य वर्गीकरण है। **हरीतिकी** प्रकार का वाद्य बीच से मोटा और दोनों किनारों पर समान रूप से काफी संकरा, बहुत कुछ यह दक्षिण में आज मिलने वाले **तविल** जैसा है। यव अथवा जौ के आकार के वाद्य भी ढोल होते थे और आज के मृदंग जैसे थे। गौपुच्छा या गाय की पूंछ के रूप में वर्णित वाद्य एक सिरे पर चौड़े और दूसरे सिरे पर काफी संकरे होते थे, जैसे बंगाल का **वाद्य-खोल**।

अपने वर्तमान उद्देश्य के लिए हम अवनद्ध-वाद्य को छड़ी से और हाथ से बजाए जाने वाले वाद्यों में बांट सकते हैं। इनमें से हरेक वर्ग में हम उपवर्ग बना सकते हैं, जैसे कि ढांचे वाले वाद्य, विभिन्न आकार के पात्र और सतह के अनेक रूप आदि, यद्यपि हाथ से बजाए जाने वाले वाद्यों में विविधता कम है। इनके कुछ बहुविद उदाहरण इस प्रकार हैं–

ढांचे वाले वाद्य वे हैं, जिनमें लकड़ी या धातु के ढांचे पर खाल मढ़ी जाती है। वास्तव में, ऐसे वाद्ययंत्रों में उनकी गहरायी की अपेक्षा व्यास बहुत अधिक लंबा होता है। स्वाभाविक ही है कि खाल ढांचे की एक या दोनों ओर मढ़ी होगी।

इस प्रकार के वाद्यों का सबसे सरल प्रकार है–सूर्य पिरई अथवा सूर्य मंडलम और चंद्र पिरई अथवा चंद्र मंडलम। दोनों आंध्र और तमिलनाडु में पाये जाते हैं। दोनों नामों में पिरई का अर्थ वाद्य से है। सूर्य और चंद्र से आकार का भान होता है। सूर्य पिरई पूरी तरह गोल होती है और चंद्र पिरई चंद्राकार होती है। लगभग 25 सेंटीमीटर व्यास की यह पिरई गोल या चंद्राकार में मुड़ी लोहे की छड़ से बनी होती है, जिसके ऊपर खासतौर से तैयार की गयी खाल लगी होती है। ढांचे में

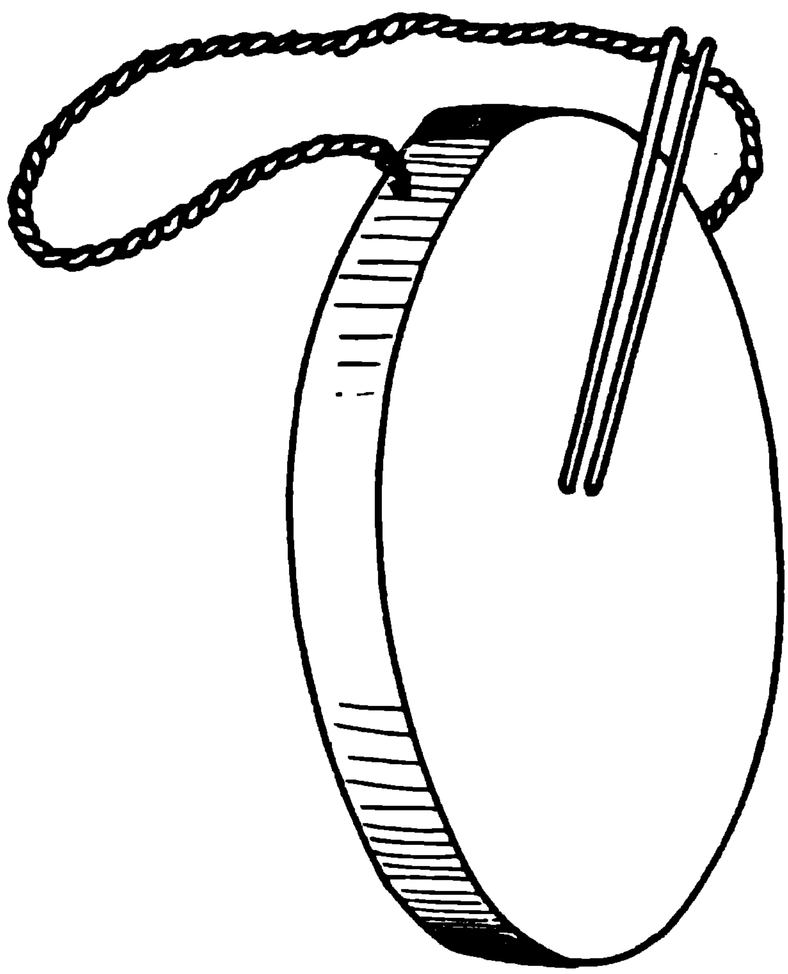


9. चंद्र पिरई और सूर्य पिरई

एक हैंडिल लगा होता है। इसका दूसरा सिरा लोहे के ही बने एक मुड़े हुए छल्ले से जुड़ा होता है। यह छल्ला वादक के माथे पर बांध दिया जाता है जो छोटी छड़ियों से चमड़े के दोनों ओर बजाता है। (9)

इस वर्ग का सर्वत्र पाया जाने वाला वाद्य ढफ है। हर इलाके में इसकी आकृति, आकार, बनावट और नाम भी बदलते रहते हैं। लेकिन आमतौर पर यह सभी लकड़ी या धातु की पट्टी को गोल मोड़ कर वृत्ताकार बनाए जाते हैं। कभी कभी इनका आकार अष्टकोणीय तक हो सकता है, जैसे कि राजस्थान का **घेरा** और यह भी संभव है कि प्रारंभिक वाद्यों में कोई निश्चित आकार न रहा हो केवल गोलाकार-सा या चपटा आकार हो। खाल के मढ़े जाने तक का तरीका भी इलाके और किस्म के हिसाब से बदलता रहता है। उदाहरण के लिए, उड़ीसा के **चंग** में खाल ढांचे में लकड़ी के पिनों से अनगढ़ रूप से मढ़ी जाती है। ढफ की कुछ किस्मों, जैसे कर्नाटक में मिलने वाली किस्मों में और अन्य क्षेत्रों में भी खाल को लगाने के लिए धागों और छल्लों का जटिल तंत्र रहता है। प्रायः चमड़ा सारे ढांचे पर एक-सा लगा रहता है और बराबर दूरी पर लगी धातु की छोटी कीलों से जड़ा रहता है। वाद्य आमतौर पर गले में लटका रहता है, आड़ा रखा जाता है और हाथों या छोटी सीधी डंडियों से बजाया जाता है। ढफ जनजातीय और लोक-वाद्य है। यह संगीत सम्मेलनों में प्रयुक्त नहीं होता। इस वाद्य के अनेक नाम हैं, जिनमें सबसे आम है–ढफ। इस शब्द के विविध रूप डप्पू, डफली आदि हैं। तमिल में बदल कर यह टेप तक हो जाता है। भाषाई तौर पर यह अरबी शब्द **डफ** से जुड़े हैं। दक्षिण भारत में प्रयुक्त नामों की एक अलग शृंखला है और यह कन्नड़ में **तम्मटे** या **तप्पटे**, तमिल में **तम्मटई** या **तप्पटई** और तेलुगु में **तम्मेटा** या **तप्पेटा** कहलाते हैं। कुछ विद्वानों ने एक मिस्री शब्द **टिम्बिट्टू** से इनकी समरूपता की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जो इस वाद्य के मिस्र से श्रीलंका की ओर जाने का संकेत देता है, जहां इसे **तम्मीटम्मा** कहा जाता है। महाराष्ट्र और कर्नाटक में यह **हेलिगे** नाम से भी जाना जाता है। अब कन्नड़ में हेलिगे का अर्थ है तख्ता और यों एक चपटी सतह, अर्थ का विस्तार करने पर एक ऐसा वाद्य जिसमें बजाने के लिए चौड़ी समरूप सतह हो, हेलिगे नाम पा गया। कुछ के अनुसार ढांचे वाले वाद्य के लिए संस्कृत में आदि शब्द 'पटह' था–यह शब्द महाभारत और नाट्यशास्त्र में है। संगीत के मध्यकालीन लेखकों ने इसका प्रयोग ढोल वाद्य के लिए किया है। इस वर्ग के वाद्यों के अन्य नाम हैं डेरा, चंग, करचक्र आदि। स्थापत्य के प्रमाणों में ईसा पूर्व काल के बारहट के भित्ति चित्र हैं। एक बड़ी मुहर पर अंकित चित्र में एक हाथी और बंदरों का जुलूस दिखाया गया है। कुल मिला कर आठ बंदर हैं, जिनमें से पांच हाथी की पीठ पर फैल कर बैठे सवारी कर रहे हैं। तीन बंदर जमीन पर संगीत-वाद्य बजाते हुए घूम रहे हैं। एक बंदर अपने कंधों से लटका रेतघड़ी जैसा वाद्य बजा रहा है। दूसरा एक बड़े ढफ जैसा बाजा आगे से मुड़ी छड़ी से बजा

रहा है और तीसरा एक तुरही बजा रहा है जिसमें एक लंबी सीधी नली का दूसरा छोर शंख के आकार का है। (10)



10. ढफ या तम्मेटा

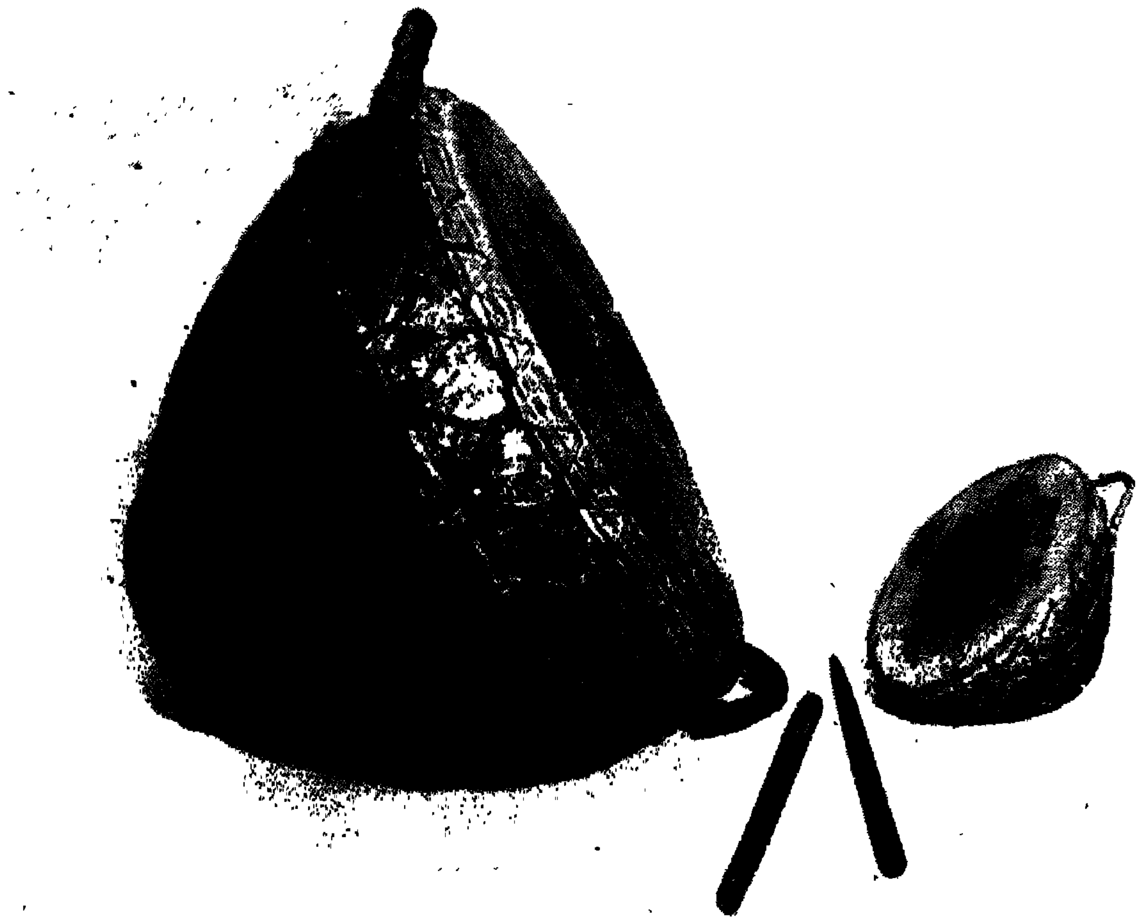
ढांचे का बना एक दूसरा ढफ जैसा लेकिन आकार में उससे छोटा वाद्य है खंजरी। खंजरी में लगभग 30 सेंटीमीटर व्यास का लकड़ी, पीतल या लोहे का बना एक ढांचा होता है और यह एक झिल्ली से मढ़ा होता है, वाद्य को ऊंगली और हथेली का प्रयोग कर बजाया जाता है। खंजरी और ढफ में केवल व्यास का ही अंतर उल्लेखनीय नहीं है। खास अंतर यह है कि खंजरी में पीतल की छोटी छोटी झांझ की जोड़ियां ढीली लगी होती हैं जो बजाने पर मधुर झंकार उत्पन्न करती हैं। यह भी एक लोक-वाद्य है और प्रायः पाश्चात्य जिप्सियों से जुड़ा माना जाता है और खंजरी कही जाती है, हिंदी के मध्यकालीन कवियों ने भी इसका उल्लेख किया है।

इस वर्ग की तीसरी किस्म, हालांकि झांझ के बिना होती है और छोटी भी होती है, उत्तर में खंजरी ही कही जाती है और दक्षिण में कंजीरा कहलाती है। लगभग बालिश्त भर का फासला रख यह एक हाथ में पकड़ी जाती है और दूसरे से बजायी जाती है। उत्तर भारत में यह एक लोक-वाद्य है जबकि दक्षिण में यह घटम जैसा

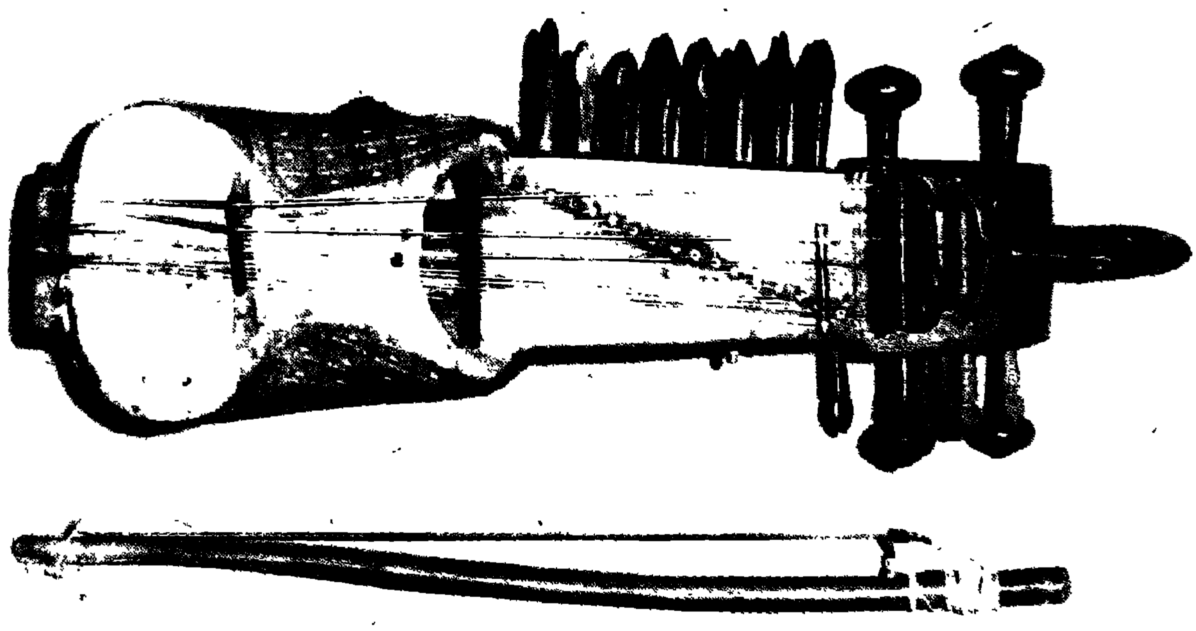
ही संगीत सभाओं में बजाया जाने वाला वाद्य है। संगीत सभाओं में एकल कलाकार चाहे गायक हो अथवा वादक अपने संगत कलाकारों ताल-वादकों को अवसर देता है। कला प्रदर्शन का यह अंग **तानि अवर्तनम** अथवा संक्षेप में **तानि** कहलाता है और मृदंगम, कंजीरा तथा घटम के कलाकारों को अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने का अवसर देता है। मृदंगम इनका अगुवा माना जाता है और ताल का आरंभ करता है। अंत में तीनों एक साथ आ जाते हैं और इस तरह तानि का अंत होता है। कभी कभी इस गुट में मोरचंग भी आ जाता है हालांकि मोरचंग के ऐसे कुशल कलाकार धीरे धीरे कम हो रहे हैं जो भारतीय संगीत के अनूठे ताल भेदों को उभार सकते थे।

ढफ और खंजरी भेड़, बकरी, बैल या भैंसे की खाल से बनती हैं लेकिन कंजीरा और छोटी खंजरी एक किस्म की छिपकली की खाल से बनती हैं। चूंकि चमड़ा वाद्य को बनाने के दौरान ही ढांचे पर कस कर मढ़ दिया जाता है और उसमें मिलाने की गुंजाइश नहीं होती इसलिए यह वाद्य बारीक संगत के उपयुक्त नहीं होते हैं। इधर हाल में झिल्ली को लगाने के लिए पेंचों का प्रयोग होने लगा है—अर्थात एक ऐसी तकनीक जो पश्चिम से ली गयी है। इससे ढफ जैसे वाद्यों को मिलाना भी संभव होने लगा है हालांकि मृदंग और तबले जितना नहीं। आमतौर पर जब कोई वादक खाल को अधिक कसा पाता है तो उसको वांछित स्वर तक लाने को ढीला करने के लिए पिछली सतह को गीला करता है। जब यह थोड़ा ढीला होता है जैसाकि बरसात में अक्सर हो जाता है, तब वह इसको आग पर गर्म करता है।

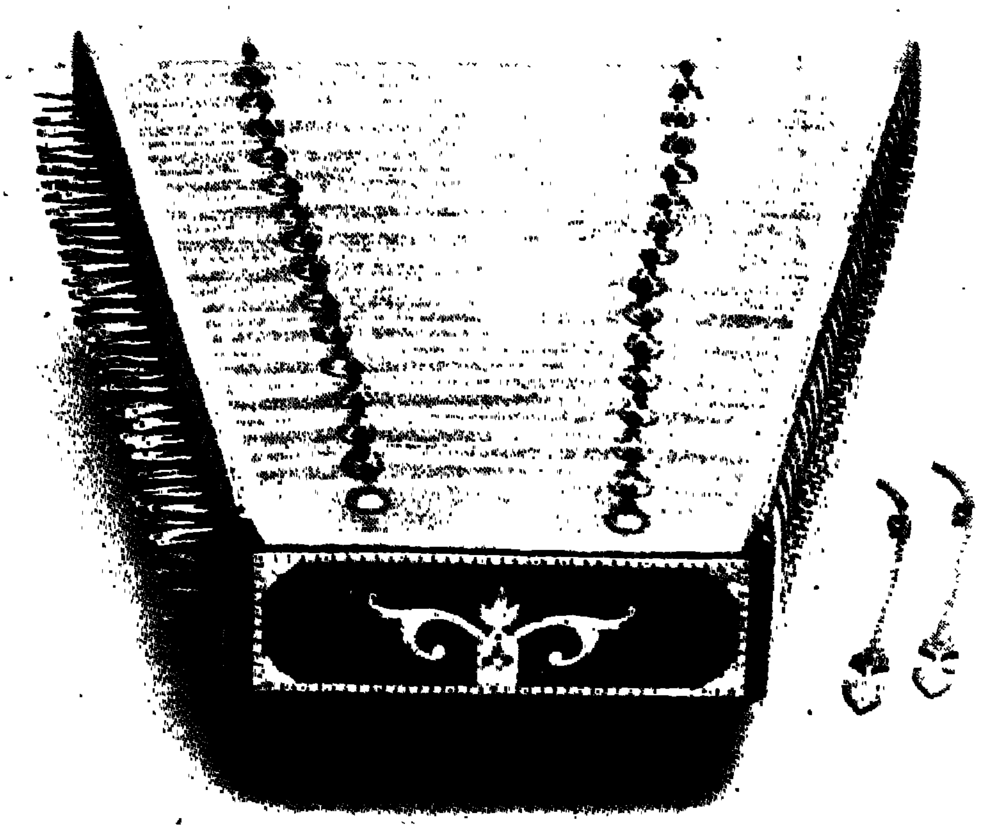
अब तक वर्णित वाद्यों में बजाने के लिए एक ही सतह होती है। लेकिन कुछ ऐसे भी वाद्य हैं जिनमें व्यास के मुकाबले में गहरायी नगण्य होती है लेकिन सतह दो होती हैं, इस किस्म के कुछ खास वाद्य हैं केरल का **मुरिचंड,** उड़ीसा का **चडचड़ी** तथा इसका सबसे अच्छा उदाहरण लद्दाख और समीपवर्ती इलाकों का **गूना** है। ढफ की तरह इसका ढांचा होता है जो रंगीन मीनाकारी के विशिष्ट नमूनों से सुसज्जित होता है—इस तरह के हस्तशिल्प की सुंदर कृति **गूना** दोनों ओर मढ़ा होता है और इसे पकड़ने के लिए एक लंबा हैंडिल लगा होता है। इसे एक खास तरह से मुड़ी लकड़ी से बजाया जाता है। यह सबसे छोटी किस्म है, बड़े गूना **चेन** कहलाते हैं जो ढांचों पर लटकाए जाते हैं और छड़ियों से बजाए जाते हैं। बौद्ध क्षेत्रों में यह तथा अन्य वाद्य तांत्रिक क्रियाओं से संबंधित हैं, जहां चपटे वाद्य दयालु तथा उग्र दोनों तरह के देवताओं को वश में करने को बजाए जाते हैं। लद्दाख, भूटान, नेपाल और तिब्बत के वासी शेरपाओं के लामा नृत्यों में इन ढोलों तथा अन्य वाद्य यंत्रों की महत्वपूर्ण भूमिका है। गूना चाक नृत्य बहुत ही लोकप्रिय है। चार नर्तक यह नृत्य करते हैं। एक जोड़ी गूना बजाते हैं और दूसरे झांझ। यह ताल स्वर्ग के वाद्य की



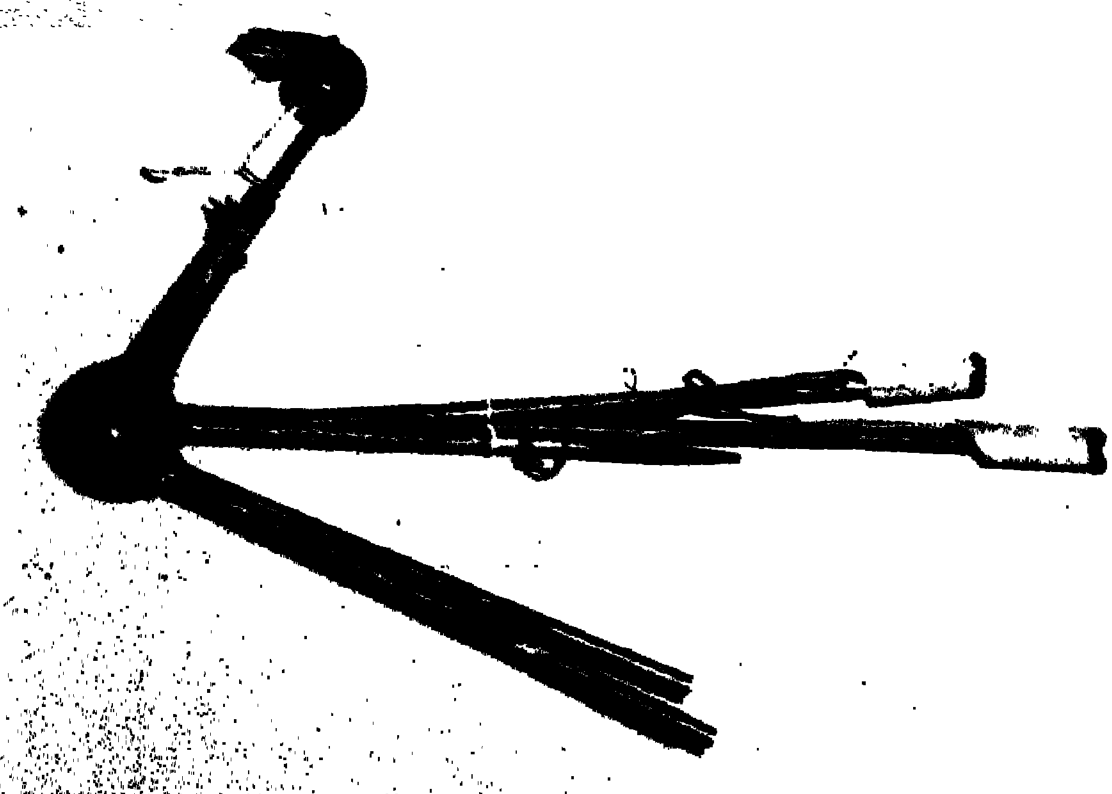
नगाड़ा



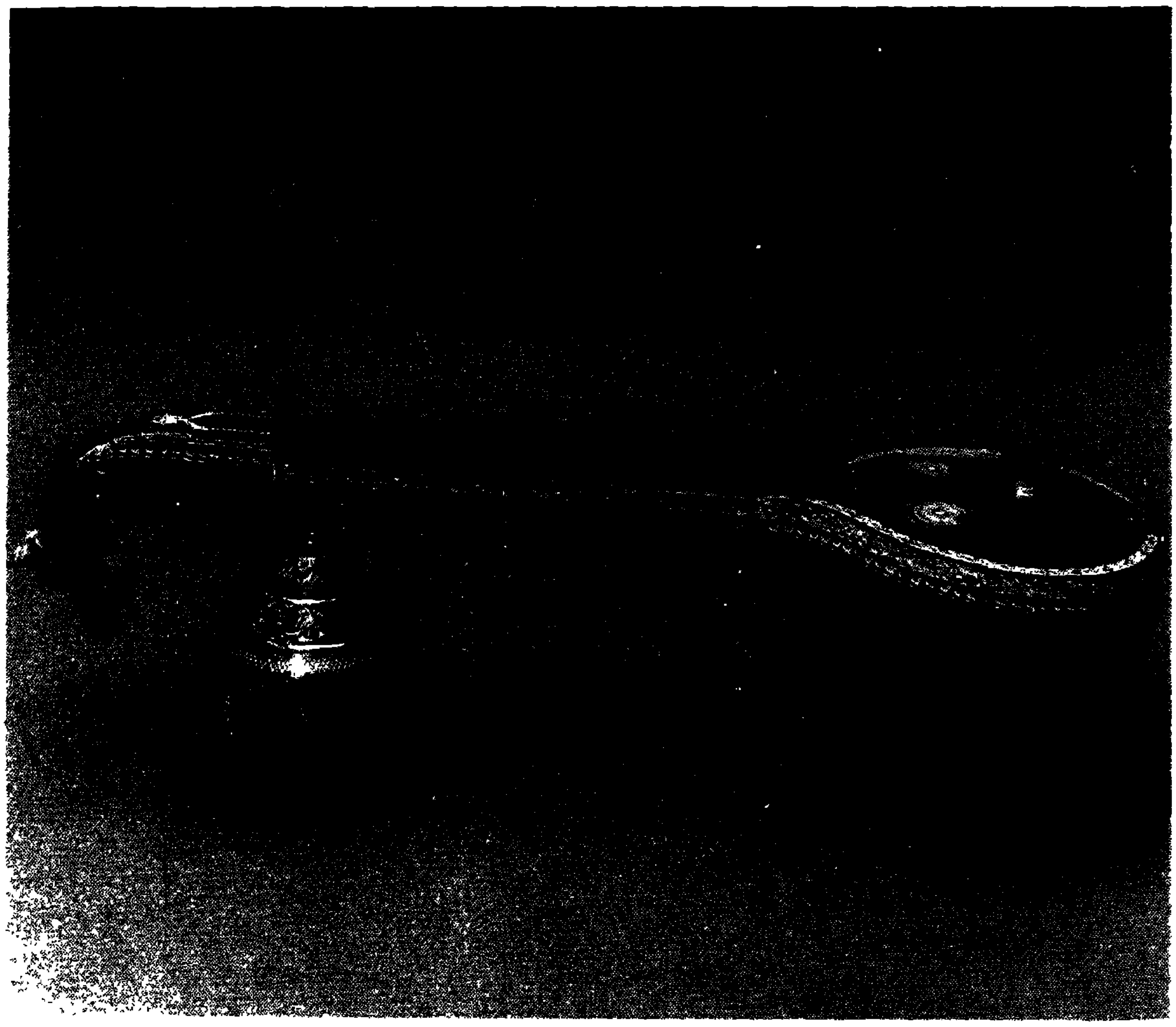
सिंधी सारंगी



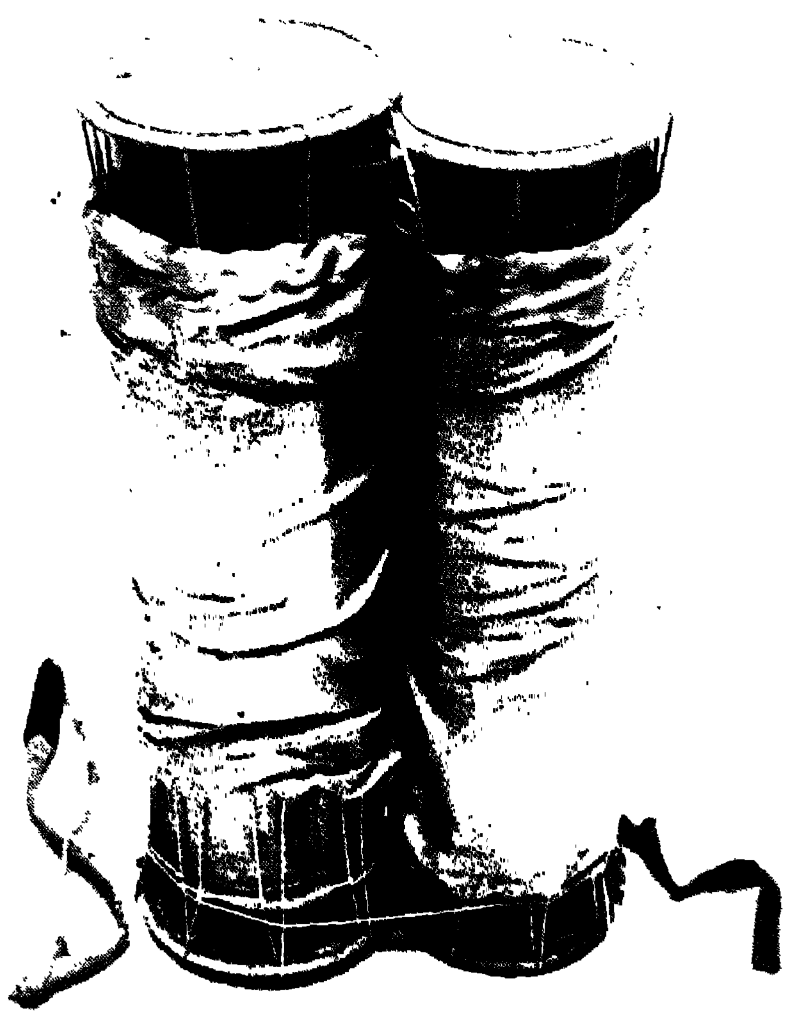
संतूर



खुंग



वीणा



पम्वा

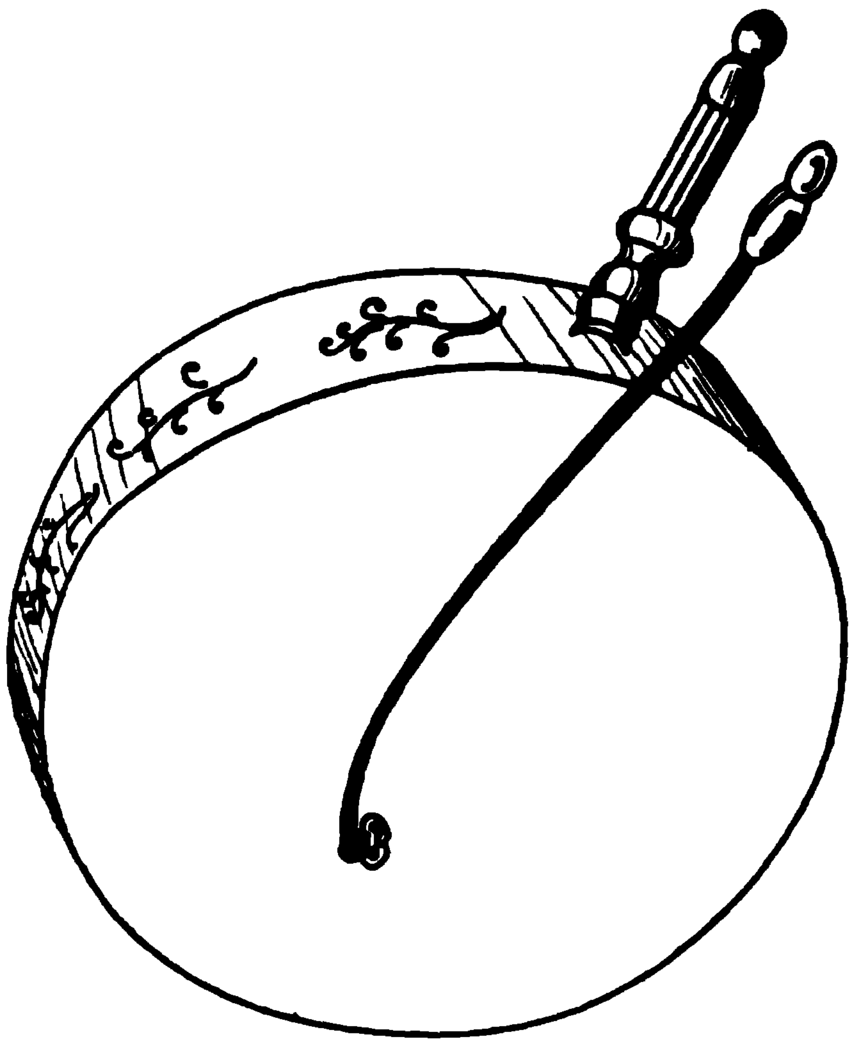


मोहोरी

पंचमुखवाद्य



ताल का प्रतीक है, जो जगत में जीवन और मृत्यु के रूप में व्याप्त है। वाद्य की ध्वनि गौतम द्वारा निष्पादित सत्य का विश्व में प्रेषण और प्रसार का प्रतीक अर्थ



11. गूना

बताती है, गूना रोगों के कारणों का दैवीकरण कर चिकित्सा के उद्देश्य से भी प्रयोग किया जाता है। (11)

जैसाकि पहले बताया जा चुका है यह संभव है कि बड़े लकड़ी के बेलनाकार वाद्य अवनद्ध-वाद्यों के आदि वाद्य रहे हों। इसके कारण इस प्रकार बताये गए हैं : यह आसान है कि एक पेड़ को गिराया जाए, तने को वांछित आकार में काटा जाए, तने को अंदर से खोखला किया जाए और दोनों सिरों को खाल से मढ़ कर ढोल बना लिया जाए। आज भी इस प्रकार के बड़े वाद्य अनेक इलाकों में कई जनजातियों और देहातों में पाये जाते हैं। असम का खर्रम, आंध्र के रेड्डी लोगों का ढोल और महराष्ट्र के धनगड़ों का ढोल उनके नर्तकों द्वारा बजाये जाते हैं। ऐसा एक ढोल सिंधु घाटी से प्राप्त एक मुहर पर भी देखा गया है और इस प्रकार इस उपमहाद्वीप में प्रागैतिहासिक काल से पाया जाता रहा है। मुहर पर अंकित दृश्य में अपने सीने तक एक ढोल को लटकाए एक आदमी दिखाया गया है, वह एक गाय अथवा बैल के सामने खड़ा है और अपने हाथों से वाद्य बजा रहा है।

वाद्यों के बेलनाकार प्रकार का वर्णन भेरी के उदाहरण के बिना प्रारंभ ही नहीं हो सकता। यह हमें ज्ञात सबसे पुराने वाद्यों में से एक है। इसकी आवाज बहुत ऊंची तथा कर्णभेदी होगी क्योंकि आमतौर पर इसका प्रयोग युद्धों, जुलूसों तथा विवाहोत्सवों पर हुआ है। रामायण में भी इसके अनेक उल्लेख हैं। जब हनुमान को पकड़ कर रावण द्वारा दंडित किया गया तब राजा के आदेश शंख और भेरी के घोष के साथ सुनाए गए। शत्रु के बाण के दुष्प्रभाव से जब राम और लक्ष्मण जागे तब हर्ष के इस अवसर पर भेरी, मृदंग और शंख ध्वनि की गयी। युद्ध की चीखपुकार तथा सिपाहियों में उत्साह का संचार तथा शत्रुओं में आतंक फैलाने के लिए प्रयुक्त ढोल-वादन में अन्य तत-वाद्यों के साथ भेरी का प्रयोग किया जाता था, जैसाकि अनेक स्थलों पर महाभारत में वर्णन मिलता है। एक छोटी-सी जातक (बोधिसत्व के जीवन चक्रों की कथा) कथा 'भेरी वाद जातक' में इस वाद्य के उपयुक्त वादन का सुंदर वर्णन किया गया है। कथा इस प्रकार है–

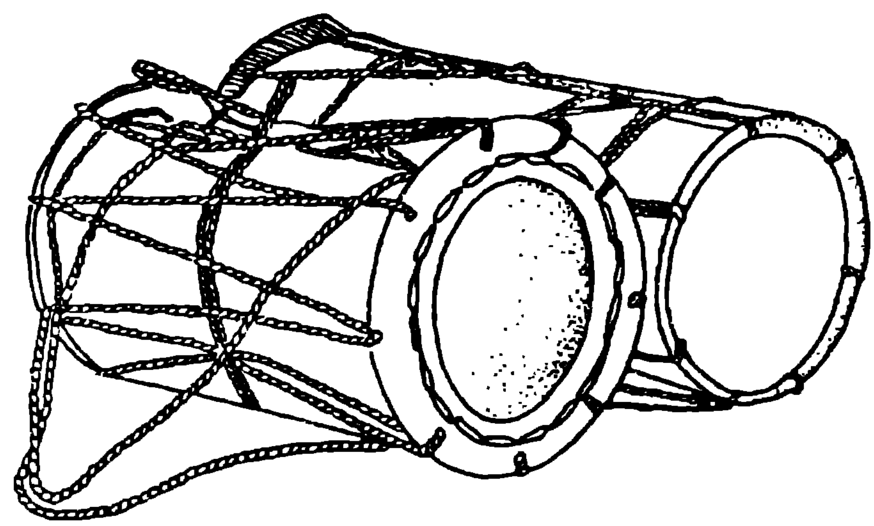
"एक बार बोधिसत्व ने वाराणसी के निकट एक गांव में जन्म लिया और ढोल बजाने का पेशा अपनाया। उत्सव के मौके पर कुछ धन कमाने की गरज से वह नगर को गया। उसके साथ उसका बेटा भी गया। मेले में अच्छी कमाई कर दोनों ने घर की राह पकड़ी, उनका रास्ता जंगल के बीच से गुजरता था जहां बड़े लुटेरे रहते थे। लुटेरों को डराने की गरज से पुत्र ने भेरी अनवरत बजानी शुरू कर दी। पिता ने उसे रोका कि ऐसा न करो, रुक-रुक कर बजाओ जैसे किसी बड़े जमींदार की सवारी निकल रही हो। पुत्र ने उसकी सलाह न मानी और अपने बाजे से घोष करता रहा। पहले तो लुटेरे यह सोच कर भागे कि अपने दल बल सहित किसी बड़े जमींदार की सवारी निकल रही है, लेकिन जब ढोल की आवाज रुकी ही नहीं तो उन्होंने आकर देखा कि बूढ़ा और उसका बेटा ही चले जा रहे हैं। तब वे उन दोनों के ऊपर टूट पड़े और उन्होंने जो कमाया था सब लूट ले गए।" कहानी की शिक्षा है–

अति को सदा बरजिए, रखिए कछु छुपाए।
बजा बजा कर जो मिला, दिया गंवा बजाए।।

13 वीं शती में लिखे गए 'संगीत रत्नाकर' में, जो कि संगीत पर रचे सर्वश्रेष्ठ ग्रंथों में से एक माना जाता है, भेरि का संक्षिप्त वर्णन मिलता है– ढोल तांबे का बना होता है, यह लगभग 65 सेंटीमीटर लंबा और दो मुखों में प्रत्येक 25 सेंटीमीटर व्यास का होता है। एक मुख हाथ से बजाया जाता था और दूसरा कोण से। भेरि की किस्म होती थीं–युद्ध में प्रयुक्त होने वाली रणभेरि, आनंदभेरि तथा मदनभेरि आदि का प्रयोग गोपिकाओं ने अपने नृत्य एवं धमार गायन के साथ किया था।

भिन्न भिन्न आकारों के और भिन्न भिन्न स्थितियों में रखे जाने वाले बेलनाकार

प्रकार के ढोल आज पूरे देश में मिलते हैं। आमतौर पर यह छोटे होते हैं तो **ढोलक** और बड़े हों तो **ढोल** कहे जाते हैं। (डोल-वाद्यों के लिए भी यही शब्द प्रयोग किये जाते हैं।) आंध्र और तमिलनाडु में मिलने वाली इसकी एक दिलचस्प किस्म है–**पम्बा** अथवा **पम्बई** जो एक लोक-वाद्य है। आंध्र के दक्षिणी भाग में असल में एक जाति है जो इस वाद्य को बजाती है। यह समुदाय खुद को पम्बाला कहता है और पुरातन पंथी हिंदुओं तथा 'अछूतों' के मुकाबले उनकी बड़ी रोचक स्थिति है। पम्बई एक ढोल नहीं है। बल्कि एक जोड़ी बेलनाकार अथवा करीब करीब बेलनाकार ढोलों को असल में एक दूसरे से बांधकर बनता है। बंधे हुए ढोलों की जोड़ी वादक की छाती की ऊंचाई पर रहती है और मुड़ी हुई लकड़ियों से बजायी जाती है। सबसे सरल किस्मों में दोनों ढोल लकड़ी के बने होते हैं, लेकिन ऐसे भी पम्बई दिखाई देते हैं जिनमें एक ढोल लकड़ी का और दूसरा धातु का, अक्सर पीतल का बना होता है। दोनों का अलग अलग भान होने के लिए दोनों के अलग अलग नाम हैं। लकड़ी के ढोल का नाम वीरू वर्गम और पीतल के ढोल को वैंगल पम्बई कहा जाता है (वैंगल का अर्थ है पीतल)। पम्बई में दोनों समाहित हैं, यह दोनों ढोलों को मिला कर दिया गया नाम है। (12)



12. पम्बई

बेलनाकार ढोल, वाद्यों में से सर्वाधिक ज्ञात वाद्य केरल का चैंदा है। यह कथकलि, कोडियाट्टम तथा उनसे मिलते जुलते नृत्यों में हमेशा बजाया जाने वाला वाद्य है। यही वाद्य कर्नाटक के कुछ इलाकों में चैंदे नाम से जाना जाता है, जो नृत्य नाटक यक्षगान में संगत के लिए प्रयुक्त होता है। ढोल बेलनाकार होता है और कटहल की लकड़ी का बना होता है। यह दोनों सिरों पर मढ़ा होता है। इस तरह यह दो मुख का होता है लेकिन असल में बजाया एक ही ओर से जाता है। यह करने के लिए वादक इसको गले में इस प्रकार लटकाता है कि यह बहुत कुछ खड़ा लटका रहता है ओर वह ऊपर की ओर मढ़ी खाल को एक जोड़ी छड़ी से बजाता है। इस वाद्य की किस्में होती हैं : उरुटु चैंदा (ताल वैविध्य के लिए), वीवत्स चैंदा (मूल ताल के लिए), अछन चैंदा आदि। सांची जैसे प्राचीन स्थापत्य में इससे मिलते जुलते वाद्य को देखना बहुत दिलचस्प है। इसमें सैनिकों के एक समूह को मार्च करते हुए

दिखाया गया है, जिसमें एक ढोल-वादक है जो चैंदा से मिलते जुलते वाद्य को बजा रहा है।

ढोल-वाद्यों को प्रायः डोल-वाद्य भी कहा जाता है। ये असल में बहुत पुराने हैं। कुछ ग्रह्य सूत्र मृदंग और नन्दीरीति नामक एक अन्य अवनद्ध-वाद्य का उल्लेख करते हैं जो कुछ विद्वानों के अनुसार ढोल की ही एक किस्म है। प्राचीन तमिल साहित्य में मुरसु का भी कई जगह उल्लेख हुआ है। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों में मृदंग, पटह और नन्दी वाद्य और ऐसे ही अन्य वाद्यों का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। यह केवल युद्ध के ही वाद्य नहीं थे बल्कि पर्व-उत्सवों पर भी इनके प्रयोग की चर्चा हुई है। रामायण में वाल्मीकि वर्षा ऋतु का वर्णन यों करते हैं, "भ्रमरों का गुंजन तारों का बजना है, बंदरों की किलकारी ताल है, वृक्षों की शाखाएं हवा में गाती हैं और काले बादल मृदंग बजाते हैं।" कुछ जातक भी मृदंग और मुरज का वर्णन करते हैं। जैन साहित्य में भी कुछ अवनद्ध-वाद्यों के विशेष संदर्भ आये हैं। महाभारत के समकालीन हरिवंश में छालिक्य समवेत गान का वर्णन है जिसमें नारद वीणा और कृष्ण बांसुरी बजाते हैं तथा अर्जुन मृदंग पर ताल देते हैं। अपने रघुवंश में कालिदास नदी में नहाती और किलोल करती नारियों की क्रीड़ा का वर्णन करते हैं, "जल की मृदंग जैसी मोहक ध्वनि उनके गीतों पर ताल देती है और तट पर पंख फैलाये खड़े मोरों की कूक इसका स्वागत करती है तो यह श्रवणों को आनंदित करती है।" श्रीमद्भागवत पुराण में राजकुमार ध्रुव के स्वर्गारोहण के संबंध में श्लोक है, "उत्तानपाद नंदन ध्रुव की मुक्ति का समय आया। उन्होंने काल के शीश पर चरण रखे और देव रथ पर आरुढ़ हुए। देवताओं ने दुंदुभि, मृदंग और पणव वादन किया, गंधर्वों ने उनकी स्तुति गायी और आकाश से पुष्प वर्षा हुई।" बारहट और सांची की खुदाई से उपलब्ध स्थापत्य में ढोल अंकित होना दो हजार वर्ष पूर्व इन वाद्यों के होने की ओर इंगित करते हैं।

मृदंग और उस जैसे अन्य वाद्यों के वर्णन के संगीत ग्रंथ के लिए हमें फिर नाट्य शास्त्र का अवलोकन करना होगा। उनके काल में और उसके उपरांत इस वाद्य को संगीत की सभी शैलियों में और हर युग में मुख्य स्थान मिला है। भरत ने मृदंग सहित अनेक प्रकार के पुष्करों का वर्णन किया है और भिन्न भिन्न आकार के और वादन की अलग अलग स्थितियों का वर्णन किया है, जिनकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं (पुष्कर का अर्थ साधारणतया वाद्य ही प्रतीत होता है और अवनद्ध-वाद्य की अनेक किस्मों को समाहित किये लगता है)। संगीत और अन्य साहित्य में मृदंग का उल्लेख अन्य नामों से हुआ है जैसे मुरन तथा मर्दल। उनका अंतर प्रायः स्पष्ट नहीं है, यद्यपि वे सभी दो मुंह वाले थे और ज्यादातर ढोल जैसे थे। एक मध्यकालीन लेखक मर्दल का वर्णन इस प्रकार करते हैं :\यह लगभग 40 सेंटीमीटर लंबा बीच से फूला लकड़ी से बना वाद्य है। इसका व्यास एक ओर लगभग 28 सेंटीमीटर और दूसरी

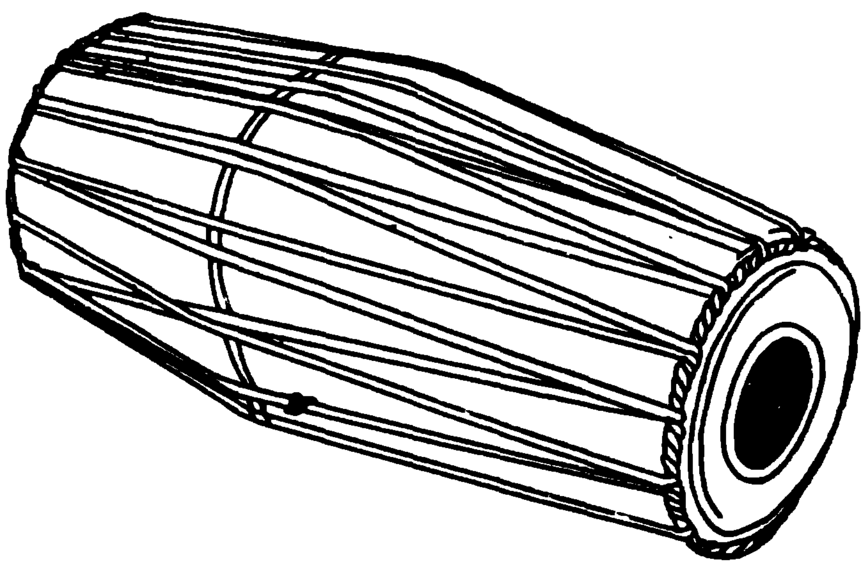
ओर 25 सेंटीमीटर के करीब है। दोनों मुखों पर पके चावल में राख मिलाकर लेप किया गया है प्राचीन लेखकों ने मृदंगों की अन्य किस्मों का भी नाप देते हुए वर्णन किया है।

मुरज का आकार भी मृदंग और मर्दल जैसा ही प्रतीत होता है लेकिन उसके बजाने वाले मुख अपेक्षाकृत छोटे थे। संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त संगम काल के तमिल साहित्य में मुरसू की कई किस्मों का वर्णन मिलता है यथा वीर मुरसू (युद्ध वाद्य), त्याग मुरसू (जिसका वादन दान या अनुदान की घोषणा के लिए होता था) आदि। मुरज का चलन इंडोनेशिया में होने के प्रमाण हैं जहां इसका नाम मुरव हो गया।

इस काल में भी हम मृदंग शब्द का उपयोग दो मुख वाले भिन्न भिन्न वाद्यों के लिए करते हैं, जैसे दक्षिण भारत का मृदंगम, हिंदुस्तानी संगीत का पखावज और बंगाल का खोल आदि आकार और संरचना में असमानता होते हुए भी मृदंग ही कहे जाते हैं। मर्दल से मिलते जुलते मड्डलम के नामों में भी इसी प्रकार की भ्रामक स्थिति है।

नागस्वरम् वादन में संगत के लिए प्रयुक्त होने वाले तविल के अपवाद को छोड़कर दक्षिण में मृदंगम ही ऐसा अकेला वाद्य है, जो शास्त्रीय संगीत सभाओं में संगत के लिए प्रयोग किया जाता है। गंभीर संगीत के साथ चाहे हमेशा न सही पर एक जमाना था जब ढोलक भी बजती थी पर अब शास्त्रीय संगीत में वह बिल्कुल ही नहीं दिखायी पड़ती। मृदंगम जैसा ही एक और वाद्य है सुध्य मंडलम जो कथकलि जैसे नृत्यों के साथ बजाया जाता है। नामों के भ्रम को दूर करने और वाद्य यंत्रों को एक दूसरे से अलग करने के लिए अब हम मृदंगम शब्द का प्रयोग कर्नाटक संगीत के दो मुख वाले अवनद्ध-वाद्य के लिए करेंगे, जिसका वर्णन अब किया जा रहा है। इस वाद्य यंत्र का खोल लकड़ी का होता है और लगभग 60 सेंटीमीटर लंबा होता है। जैसाकि इस संदर्भ में आवश्यक ही है यह बीच से फूला होता है और इसका एक मुख दूसरे से बड़ा होता है। दायां मुख बायें की अपेक्षा कुछ छोटा होता है और उसके मुखों की संरचना भी कुछ भिन्न होती है। बायां मुख जिसे टोप्पी कहते हैं केवल दो पर्तों वाला और अपेक्षाकृत कम जटिल होता है। बाहरी पर्त चमड़े का एक छल्ला होती है और इसके किनारे एक छल्ले से जुड़े होते हैं जिसे पिन्नल कहा जाता है। इस पर्त में अंदर की ओर एक गोल झिल्ली होती है जो बाहरी पर्त के अनुपात में होती है। यह पूरी रचना बायें मुख पर लगी होती है। दायां मुख अधिक जटिल होता है क्योंकि उसमें दो की जगह तीन पर्तें होती हैं। भीतरी पर्त जो आंख से दिखायी नहीं देती और बाहरी पर्तें वैसी ही होती हैं; जैसी कि बायें मुख पर। दो पर्तों के मध्य में तीसरी पर्त खींचकर लगायी जाती है और दोनों पर्तों के किनारों से चिपका दी जाती है। यह जटिल संरचना जिसे तमिल में वालन तलई कहते हैं, एक छल्ले

से जोड़ दी जाती है और यह संपूर्ण रचना, दायें मुख पर मढ़ दी जाती है। बायीं ओर का मुख टोप्पी और दायीं ओर का वालन तलई चमड़े की डोरियों से कसकर बांध दिये जाते हैं, जो पिन्नल अथवा छेदों से निकलते और अंदर आते हैं। दायें मुख पर काले रंग का एक मिश्रण स्थायी तौर से चिपका दिया जाता है जिसे सोरू कहते हैं। दूसरी ओर टोप्पी एक सादा चमड़ा होता है जिस पर वादन से तुरंत पहले आटे की लोई मध्य भाग में लगा दी जाती है, इसे वादन के उपरांत हटा दिया जाता है। लकड़ी के टुकड़े और पत्थर से दायें पिन्नल को ठोक बजा कर वाद्य को मिलाया जाता है। (13)


13. मृदंगम

पखावज हिंदुस्तानी संगीत में प्रयुक्त अवनद्ध-वाद्यों का सम्राट है हालांकि आजकल यह दूर ही से सत्कार पाने वाला मात्र संवैधानिक प्रमुख प्रतीत होता है। एक समय था जब वह सचमुच अवनद्ध-वाद्यों का राजा था और कत्थक नृत्य, भजन. ध्रुपद एवं बीन (वीणा) में संगत के लिए प्रयुक्त होता था। अब वक्त बदल गया है, ख्याल गायकी और सितार वादन ने मैदान मार लिया है और यों कोमल शब्द वाले तबला ने इसका स्थान ले लिया है। ध्रुपद और वीणा की संगत के लिए उपयुक्त पखावज की आवाज गहरी और मधुर है तथा इसकी ताल थापी की संगत संगीत की प्राचीन शैली के साथ जमती थी लेकिन ख्याल गायकी और सितार की संगत के लिए नहीं जमती। मृदंगम के समान यह भी लकड़ी का बना होता है, थोड़ा-सा अधिक लंबा, इसमें झिल्लियां भी कई होती हैं किंतु उनका व्यास थोड़ा अलग होता है। दक्षिण के वाद्यों की तरह इसके भी दायें मुख पर एक काले मिश्रण का लेप किया जाता है जिसे स्याही कहते हैं। बायीं ओर इसमें भी मृदंगम की तरह आटे का लेप लगाया जाता है। आकृति और माप के अतिरिक्त एक जो आम अंतर है इन दोनों वाद्यों में वह यह है कि पखावज में एक छोड़ कर एक डोरी के नीचे लकड़ी के गुटके लगे होते हैं जिन्हें सुर के साथ मिलाने के लिए ऊपर नीचे किया जा सकता है। सुर के महीन रेशों को मिलाने के लिए प्लेट को कसा जाता है जिसे हिंदी में गजरा कहते हैं। हिंदी साहित्य में लगभग 500 वर्ष पहले से पखावज का उल्लेख पखावज के रूप में मिलता है। बादशाह अकबर के मंत्री एवं मित्र अबुल फजल रचित

आइन-ए-अकबरी में वर्णित अवनद्ध-वाद्यों में से यह एक महत्वपूर्ण वाद्य है। पखावज या मृदंगम के रूप में इसका अतीत बड़ा ऐतिहासिक रहा है और इसके स्वरूप तथा वादन शैली की भिन्नता के लिए अनेक क्षेत्रीय रूप प्रचलित हैं। पखावज वादन के आज प्रचलित घराने हैं, 19 वीं सदी के कुडो सिंह, इसी काल के नाना पानसे और राजस्थान में नाथ द्वारा। हालांकि यह कहना उन अनेक महान कलाकारों का निरादर नहीं है जो इस वाद्य के कुशल वादक रहे हैं और जिन्होंने अपनी व्यक्तिगत शैली विकसित की है।

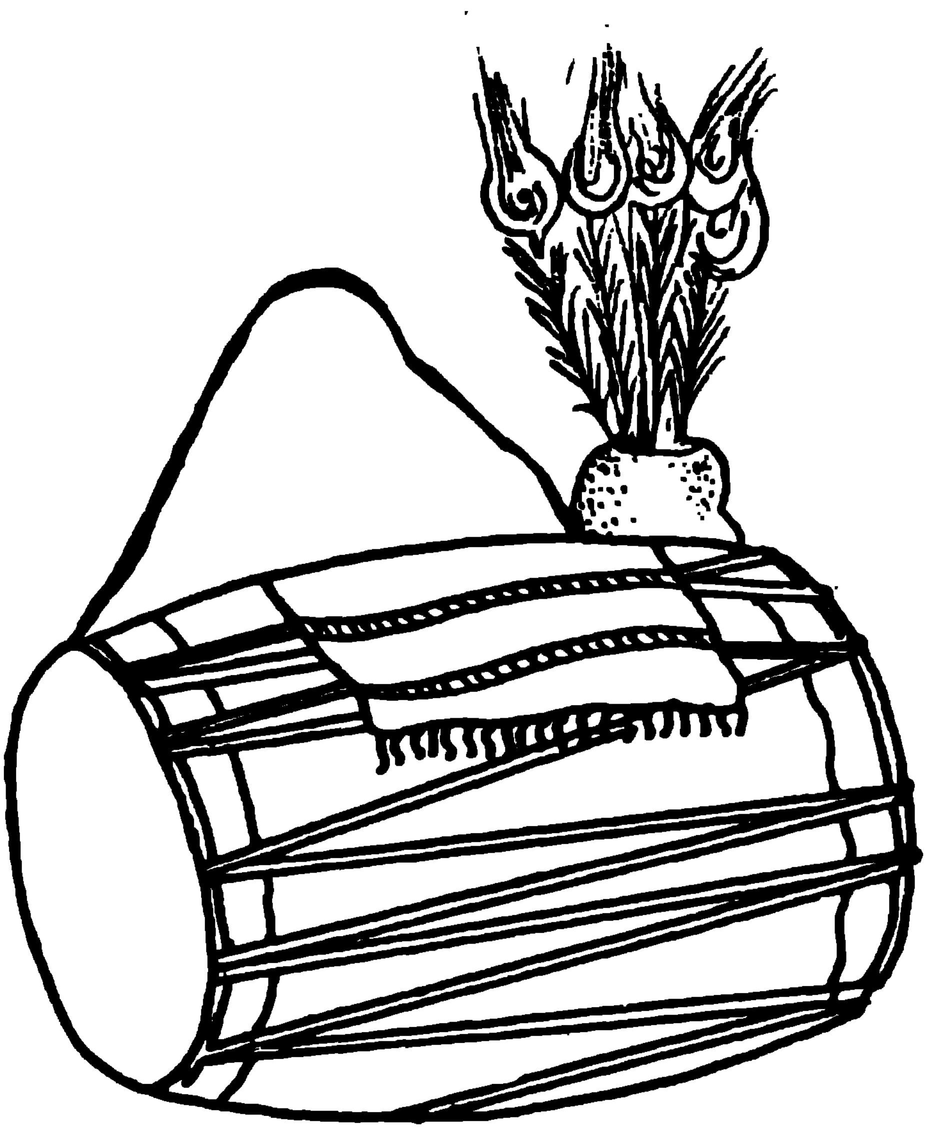
इस वर्ग के दो और वाद्य ध्यानाकर्षित करते हैं, ये हैं बंगाल के श्री खोल तथा मणिपुर के पुंग। हमारे देश के पूर्वी अंचल में कीर्तन और संकीर्तन गायकी बहुत महत्वपूर्ण समूह गायन है और 15वीं 16वीं शताब्दी में बंगाल के संत श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस तरह के समूह गान को लोकप्रिय बनाया।

ऐसा प्रतीत होता है कि बंगाल से इसकी यात्रा पूर्व में आसाम और मणिपुर तथा उड़ीसा तक हुई। कीर्तन के साथ खोल भी अपनी विविधताओं के साथ पहुंचा। वास्तव में, भक्ति और कीर्तन के साथ इस वाद्य का संबंध इतना गहरा है कि इसका नाम ही श्री खोल हो गया। हालांकि आकार में कुछ अंतर हो सकते हैं, यह वाद्य लगभग पौन मीटर लंबा और दूसरे मुख की अपेक्षा एक मुख काफी चौड़ा होकर अपने गौपुच्छ सदृश्य वर्णन को सार्थक सिद्ध करता है। यह लकड़ी या पकी मिट्टी का होता है और मृदंग की भांति कई पर्तों वाले दो मुख का होता है। मणिपुरी नृत्य एवं संगीत में प्रयुक्त पुंग, श्री खोल से छोटा होता है। इसका फूला हुआ भाग अधिक मध्य में होता है और खोल की तुलना में इसकी रचना अधिक समरूप होती है, इस तरह इसकी आकृति पूर्व वर्णित यव (जौ) जैसी होती है। दोनों ही वाद्य हाथ से बजाए जाते हैं।

दक्षिण का तविल एक और उल्लेखनीय अवनद्ध-वाद्य है। नागस्वरम् अथवा मेलन से मिलता जुलता यह एक बहुत ही अनोखा एवं अपने ढंग का अकेला ही वाद्य है। मृदंगम की तरह यह वाद्य भी एक पीपे के आकार का होता है लेकिन इसी कारण इसे हरीतिकी प्रकार का वाद्य भी कह सकते हैं। ऊपर वर्णित अन्य वाद्यों की तरह तविल भी लकड़ी का बना होता है। इसका आकार कुछ छोटा और झिल्ली की पर्तें लगभग उसी नाप की होती हैं। झिल्ली छल्लों पर चढ़ी होती है, जो चमड़े की डोरियों से एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। वादक एक ओर लकड़ी से और दूसरी ओर ऊंगलियों से बजाता है। इसे इतनी ताकत और जोर से बजाया जाता है कि ऊंगलियों की रक्षा और आवाज में वांछित असर पैदा करने के लिए ऊंगलियों के पोरों पर गोल पट्टियां बांध ली जाती हैं।

बिना वर्णन किये ही हम ढोल और ढोलक की चर्चा अनेक बार कर चुके हैं। ऐसा इसलिए है कि इस नाम से मिलने वाले वाद्यों की अनेक किस्में हैं जिनमें समानता

केवल यह है कि ये सभी दो मुंह वाले वाद्य हैं। आमतौर पर बड़े वाद्य को ढोल या ढक तथा छोटे को ढोलक कहा जाता है। बंगाल के विशाल ढक से लेकर जोगियों की तथा ब्याह शादियों में औरतों द्वारा बजायी जाने वाली छोटी ढोलक तक इनका



14. ढोल

आकार कुछ भी हो सकता है। इनका आकार भी बेलन से लेकर पीपे तक कुछ भी बदलता हुआ हो सकता है। मुंह पर चमड़ा मढ़ने से डोरियों को कसने तक का तरीका भी अलग अलग हो सकता है। वाद्य का मुख सादा हो सकता है अथवा तेल निकले अरंडी के बीजों की लुगदी भी अंदर लगी हो सकती है। ढोल या ढोलक गले में लटकाए जा सकते हैं, सीने से बांध कर, गोद में रख कर या जमीन पर रख कर हाथ अथवा छड़ी से बजाए जा सकते हैं। (14)

दो मुख वाले अवनद्ध-वाद्यों की तीसरी श्रेणी है रेतघड़ी, बालूघड़ी या डमरू जैसे वाद्यों की जो बीच से पतले होते हैं। इस किस्म के वाद्यों का अतीत बहुत पुराना है, कभी यह शास्त्रीय संगीत का प्रमुख वाद्य होता था। हालांकि अब शास्त्रीय संगीत के मंच से नहीं, लोक और आदिवासी संगीत में ही उनकी आवाज सुनायी देती है।

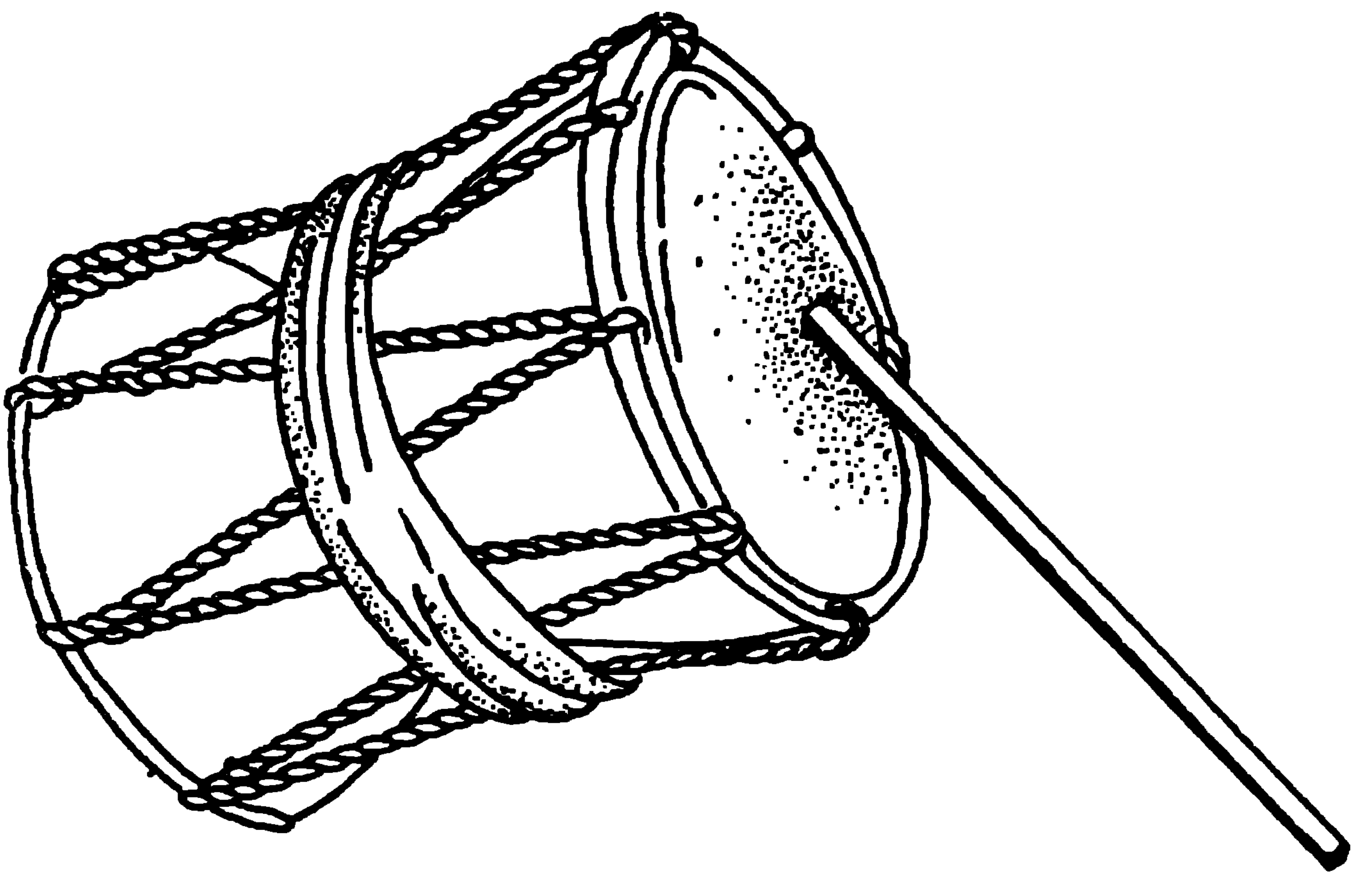
मोहनजोदड़ो के समय से ही हम डमरू का अस्तित्व पाते हैं और हर युग की मूर्ति एवं चित्रकला में इसको दिखाया गया है। सूत्र साहित्य, रामायण एवं महाभारत जैसे महाकाव्यों में काल जितने ही पुराने हैं पणव। **डिमडिमा** का उल्लेख महाकाव्यों और जातक तमिल साहित्य में उतुक्कै, इतक्कै, तिमिलई आदि का उल्लेख है जो आज भी पाये जाते हैं। इस वर्ग का ही एक और वाद्य है अउज, कुछ विद्वान इसकी उत्पत्ति संस्कृत शब्द अतोद्य से मानते हैं, जिसका अर्थ है यंत्र। यह वाद्य विशेष 13वीं शताब्दी में रचे गए 'संगीत रत्नाकर' ग्रंथ के समय का माना जाता है और आइन-ए-अकबरी में भी इसका वर्णन किया गया है। इस प्रकार के आधुनिक एवं प्राचीन वाद्यों में हुडुक्का, डेरू, ढक्का अथवा ढंका, त्रिवली, बुदबुदके, कुडुकुडुप्पे, तुड़ि आदि हैं और उनमें से ज्यादातर देश में यत्र तत्र पाये जाते हैं। वादन, आकार और रचना में भेद के कारण ये वाद्य एक दूसरे से अलग अलग हैं, और यह भी है कि एक ही वाद्य अलग अलग क्षेत्रों में अलग अलग नाम से जाने जाते हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं–

भारत भर में बंदर का खेल दिखाने वालों द्वारा बजाये जाने वाले डमरू के ही दक्षिण भारतीय नाम हैं बुदबुदके अथवा कुडुकुडुप्पे। उत्तर में भालू और बंदर नचाने का काम मदारी नामक एक जाति विशेष के लोगों द्वारा किया जाता है। यह एक बहुत छोटा वाद्य है जो कभी कभी तो केवल कुछ सेंटीमीटर लंबा होता है। बीच से पतला यह वाद्य लकड़ी का बना होता है और दोनों ओर एक झिल्ली मढ़ी होती है तथा मोटे धागे की डोरियों से कसी रहती है। बीच में बंधी डोरी के छोरों पर गांठें होती हैं। डमरू को हिलाने डुलाने से डोरी की ये गांठें चमड़े की झिल्ली पर पड़ती हैं और भालू अथवा बंदर को नचाने के लिए गाये जा रहे मदारी के गीत के साथ ताल की आवाज पैदा करती हैं।

तिब्बत और निकटवर्ती क्षेत्रों का डमरू अपनी रचना और उसके वादन के अवसरों के कारण बहुत दिलचस्पी का कारण बनता है। अनेक किस्मों वाला यह वाद्य सौम्य और उग्र दोनों धर्मपालों (धर्म के रक्षकों) के सम्मान में होने वाली संगीत सभाओं में बजाया जाता है और धार्मिक रीति रिवाजों में मध्यांतर तथा विश्राम की सूचना के लिए भी बजाया जाता है। यह रेतघड़ी जैसा वाद्य, जिसे स्थानीय बोली में नृगा चंग कहा जाता है, चंदन या कत्थे की लकड़ी का बना होता है और यह दस सेंटीमीटर से लेकर काफी अधिक लंबाई तक का हो सकता है। इसको बीच के भाग में मोटे कपड़े या चमड़े की डोरियां बांध कर आसानी से पकड़ने योग्य बनाया जाता है या सुंदर आकर्षक रंगीन लटकन को बीच में लटकाया जाता है। परिव्राजक भिक्षुओं द्वारा बजाये जाने वाले नृगा चंग तथा मचोड चंग जहां आम हैं, वहीं थोड नृगा बहुत अद्भुत है। यह दो नर खोपड़ियों के पिछले हिस्सों को मिलाकर बनाया जाता है और डमरू के मुख पर इंसान की खाल मढ़ी जाती है। अकाल मृत्यु का

ग्रास बने मनुष्य अथवा व्यभिचार से उत्पन्न शिशुओं की खोपड़ी बड़े जादुई महत्व की मानी जाती है।

डमरू जैसे आकार के होते हुए भी हुरूक्का (हुडुक्का, डेरू, उडुक्की) अलग किस्म का वाद्य है और यह आमतौर पर उससे बड़ा, कभी कभी लगभग 25 सेंटीमीटर



15. हुडुक्का

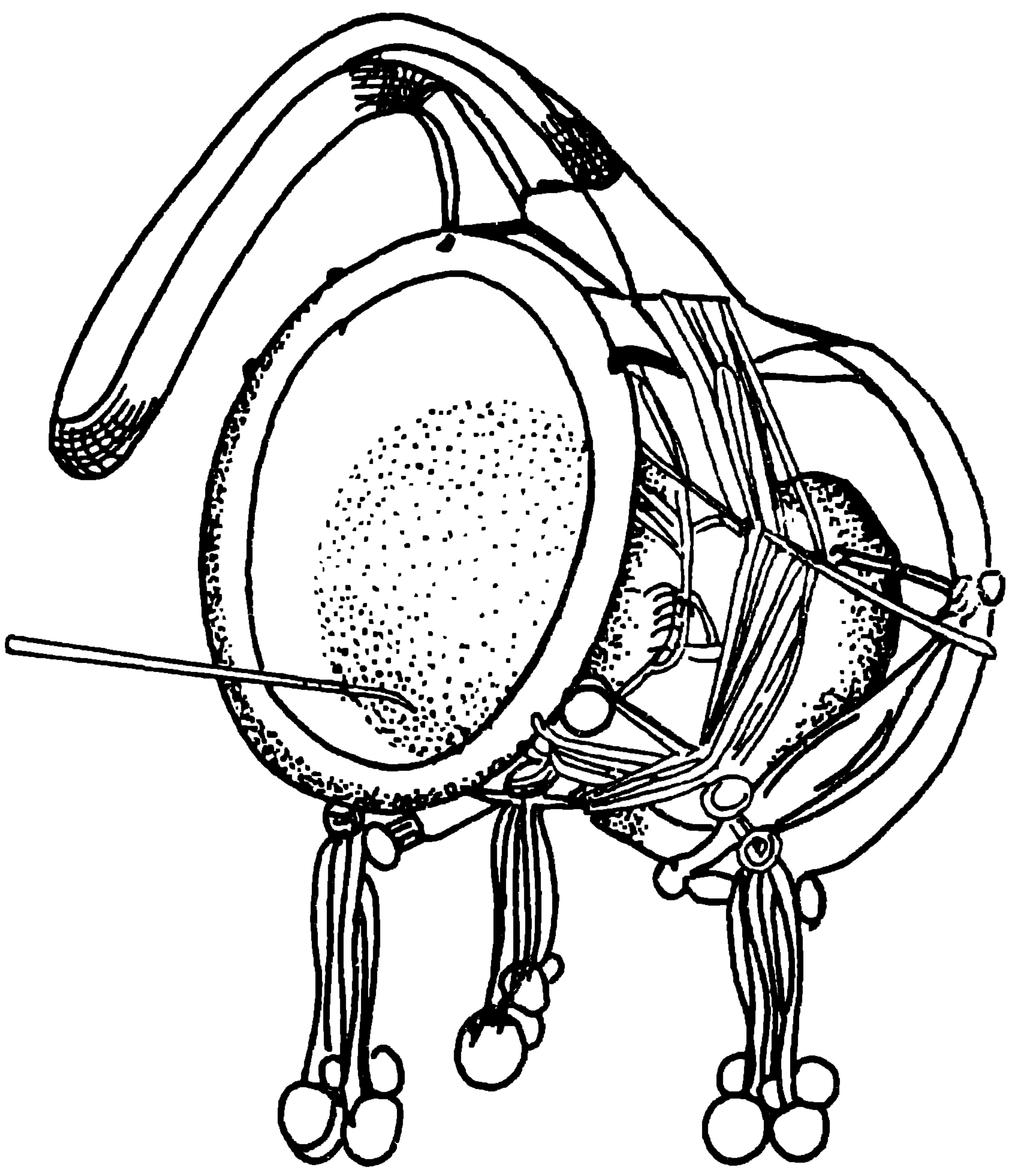
लंबा होता है। झिल्ली सादा होती है और लगभग डमरू जैसे आकार पर मढ़ी होती है। इसमें हालांकि गांठदार डोरियां नहीं होतीं इसलिए यह झुनझुना जैसा वाद्य नहीं है। इसको डंडी या ऊंगलियों से बजाया जाता है। (15)

तुड़ि एक छोटा डमरू जैसा वाद्य है और कर्नाटक तथा केरल में गाने नाचने के समय बजाया जाता है। केरल के इस वाद्य का दिलचस्प प्रयोग चोरों को पकड़ने में किया जाता है। जब किसी गांव में चोरी हो जाती है और चोर ढूंढे नहीं मिलता तब तुड़ि-वादक की शरण में जाने की रस्म है। वह सब ग्रामवासियों से घिरा गांव की चौपाल पर खड़ा होता है। जब सब एकत्रित हो जाते हैं तब वह तुड़ि वादन आरंभ करता है और इसके साथ शुरू हो जाती है चोर के लिए असह्य गालियों की बौछार ताकि वह अपना अपराध मान ले। यह निंदा इतनी तीखी और अश्लील होती है कि अपराधी को या तो अपना अपराध मानना पड़ता है या क्रोधित होकर हमला करना होता है। दोनों ही स्थितियों में वह पकड़ा जाता है।

इस वर्ग के सबसे जटिल वाद्य इडक्का का वर्णन करने से पहले हमें इन वाद्यों की आवाज परिवर्तन के तरीके पर थोड़ा ध्यान देना चाहिए। बुदबुदके का वर्णन

करते समय सूती डोरियों से दोनों मुखों को कसने की चर्चा की गयी है। ये डोरियां वाद्य के खोल से थोड़ी हटा कर लगायी जाती हैं। यह वादक को डोरियां कस कर या ढीली करके आवाज में अंतर पैदा करने की क्षमता देता है। झिल्ली के कसाव में यह परिवर्तन उससे निकलने वाली आवाज की आवृति को बदल सकता है और इस तरह अलग अलग प्रकार की मधुर आवाज निकाली जा सकती है।

केरल के इडक्का अथवा एडक्का में मढ़ने और इस प्रकार से विशिष्ट वादन की कला बहुत ही जटिल और महीन काम के रूप में विकसित हुई है। न तो यह वाद्य नया है और न इस प्रांत का है क्योंकि देश के अन्य हिस्सों विशेषकर कर्नाटक में उपलब्ध स्थापत्य के प्रमाणों से इस वाद्य के अस्तित्व की पुष्टि होती है और ये मूर्तियां सदियों पुरानी हैं। केरल में यह प्रचुरता और अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में मिलता है और यहीं इसके वादन की सबसे संवेदनशील शैली भी विकसित हुई है। चंद्र पिरई



16. इडक्का

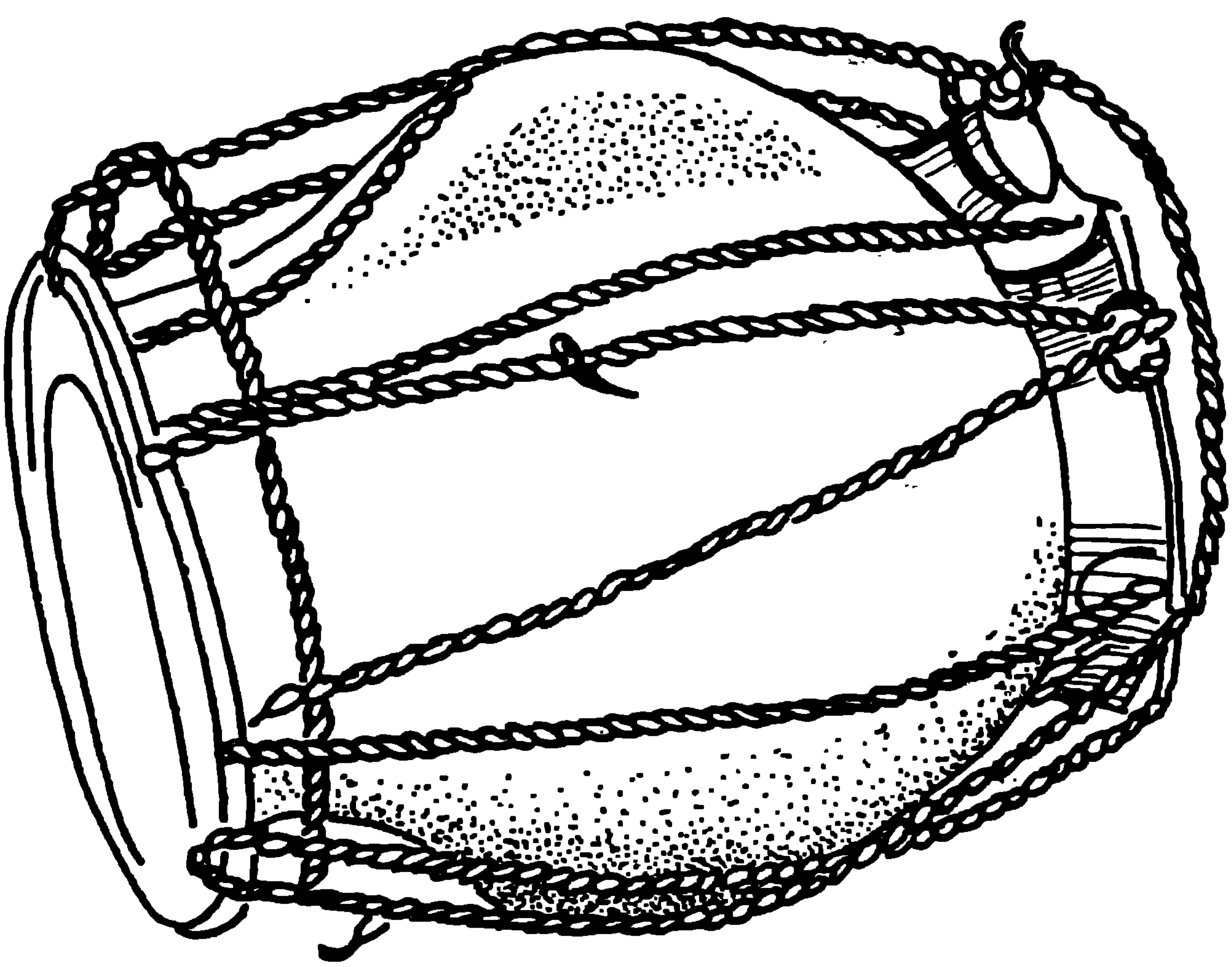
की तरह ही इसमें भी खाल छल्ले (कड़े) पर मढ़ी होती है और यह छल्ले वाद्य के दोनों मुखों पर कस दिये जाते हैं। मुख में नारियल के रेशों से बनी एक नली बीच में लगी रहती है जिससे वाद्य की आवाज में एक मधुर तान उत्पन्न होती है। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि झिल्ली मुखों पर स्थायी तौर से नहीं मढ़ी होती बल्कि छल्लों पर मढ़ी जाती है जो कि सूती डोरियों से मुखों पर कसे रहते हैं। इससे वादक इन छल्लों को कुछ हद तक खिसका भी सकता है। छल्लों को एक दूसरे से कसने वाली डोरियों के ऊपर वाद्य के बीच वाले भाग में और डोरियां कसी रहती हैं। ये वाद्य को कंधे से लटकाने वाले पट्टे से भी जुड़ी होती हैं। वादक बहुत रियाज़ किये हुए तरीके से इसे बजाता है। एक ओर छड़ी से बजाते हुए वह दूसरे हाथ को डोरियों में फंसाकर रखता है। यहां वह बीच की डोरी को खींचता है। इडक्का को धीमे धीमे हिलाता डुलाता है और कंधे के पट्टे पर भी डोरियों के कसाव को बदलता रहता है। ये सब इतनी जल्दी, चतुराई और सफाई से किया जाता है कि पता तक नहीं चलता। इतना ही नहीं इस तरकीब से तरह तरह की मधुर ध्वनियां निकाली जाती हैं। कभी कभी इस पर राग तक निकाले जाते हैं। हालांकि कभी कभी वे सुर से थोड़ा हटे हुए भी होते हैं। (16)

अब हम घड़ा, परात, कठौती और ऐसे ही अन्य पात्रों से बने अवनद्ध-वाद्यों की ओर ध्यान दें। जैसाकि पहले बताया गया है, ये घरेलू बर्तन बाद में विकसित होने वाले घट-वाद्यों के पूर्वज रहे होंगे। इनके आकार और नाप की विविधता ने अपने साथ कुम्हार कला पारि पास्सू को भी विकसित किया होगा जैसाकि आगे वर्णित बातें इसकी पुष्टि करेंगी। फिर यह भी संभव है कि भूमि दुंदुभी ने आवाज को बढ़ाने में प्रतिध्वनि के उपयोग हेतु पात्रों के प्रयोग का अप्रत्यक्ष विचार दिया हो।

स्वाभाविक ही है कि इसका सरलतम रूप मिट्टी का एक ऐसा घड़ा होगा जिसके मुख पर चमड़ा बांधा गया होगा। ऐसे अनेक लोक-वाद्य आज भी प्रयोग में है जैसे राजस्थान में पाबूजी की माते; आमतौर पर दो घड़ों की जोड़ी बजायी जाती है जोकि एक खास बात है क्योंकि दो या तीन वाद्यों का एक साथ वादन करने का हमारे देश में रिवाज रहा है और संभव है कि इससे ही तबला और डग्गा विकसित हुए हों। इनमें से हरेक मिट्टी का एक बड़ा घड़ा होता है, जिसके चौड़े मुंह पर झिल्ली कस कर बंधी होती है। 5वीं से 7वीं सदी के समय कर्नाटक के पट्टाडकल्लु मंदिर में ही संभवतः सबसे पहले घट-वाद्य देखे गए। कर्नाटक में ही एक और मंदिर है, जहां उकेरे गए चित्र में एक के स्थान पर तीन घट एक साथ बंधे और हाथ से बजाते दिखाए गए हैं। संगीत और दूसरे साहित्य में यह घट-वाद्य दर्दुर नाम से वर्णित है और ईसा से एक सदी पहले प्रचलित बताया गया है। भरत के समय में ईसा से 200 वर्ष पूर्व यह एक महत्वपूर्ण ताल-वाद्य था क्योंकि इसकी गणना मृदंग

और पणव के साथ की गयी हैं। लेकिन बाद में यह पिछड़ गया और अब यह एक आदि लोक-वाद्य है।

एक और आकृति है—कूजा अथवा सुराही, नीचे से गोल और लंबी गर्दन, जिसे फारसी और भारतीय चित्रों में मदिरा पात्र के रूप में चित्रित किया गया है। ईसप की कहानी में बगुले और सियार की दावत में भी इसका उल्लेख हुआ है। आकार, माप और सामग्री में विविधता लिये ऐसे बहुत से पात्र हैं। कश्मीर की तुम्बकनारी एक बड़ी सुराही है, जिसका ऊपरी हिस्सा चमड़े से ढका होता है और निचला भाग खुला होता है। इसको गोद में खड़ा रखा जाता है और ऊंगलियों से बजाया जाता है। गोआ और महाराष्ट्र का घुमट अधिक गोल और छोटी गर्दन वाला है। इसमें निचला भाग खुला होता है, जिस पर खाल कस कर मढ़ी जाती है और गर्दन का मुंह खुला रहता है। घुमट से बहुत कुछ मिलता जुलता ही है कर्नाटक का गुम्मटे, आंध्र का बुर्रा, तमिलनाडु का जयुक्कू लेकिन वे अधिक अच्छे बने होते हैं। तुम्बकनारी और घुमट की तुलना में इस पर खाल मढ़ने का तरीका अधिक जटिल है और यंत्र धातु का, प्रायः पीतल का बना होता है। तुम्बकनारी के अतिरिक्त अन्य में एक हाथ से मुख को बजाया जाता है दूसरे हाथ से गर्दन के खुले मुख को हथेली से दबा और खोल कर मधुर आवाज निकाली जाती है। ये सभी लोक-वाद्य हैं, जिनमें से कुछ



17. बुर्रा, गुम्मटे या घुमट

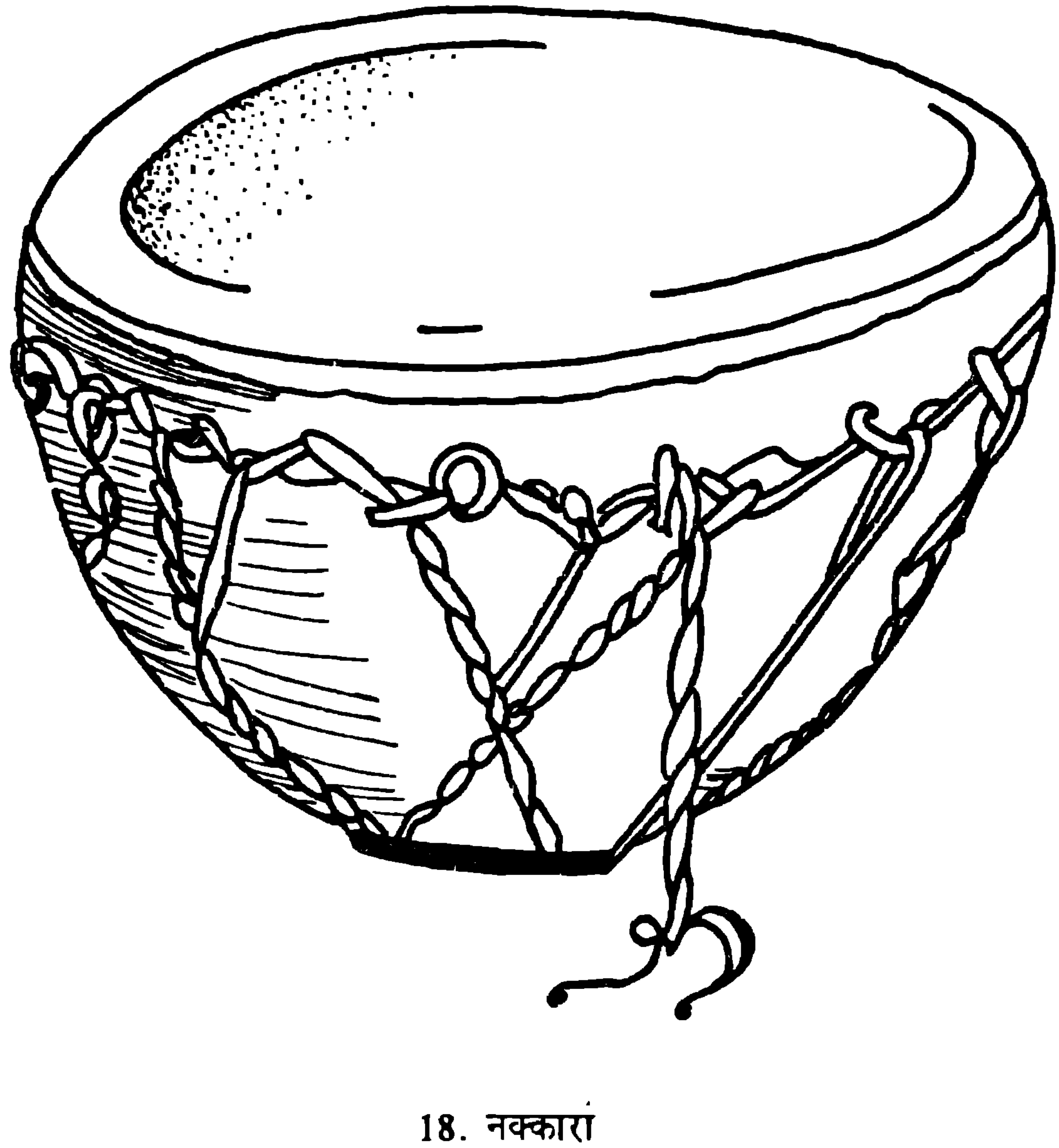
बड़े महत्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ बुर्रा आंध्र के आल्हा गायकों की खासियत है और इस तरह की गीत-कथा को बुर्रा-कथा कहा जाता है, क्योंकि गायक अपनी संगत इस वाद्य पर स्वयं ही करता है। (17)

अवनद्ध-वाद्यों का एक बड़ा वर्ग अनेक आकारों और गहराइयों वाली परातों और बड़े या छोटे शंक्वाकार पात्रों से बना है। नाप और आकार की विविधता के कारण इनकी अनेक किस्में हैं और यहां इनके सूक्ष्म भेदों की चर्चा करना संभव नहीं है। इन सब को हम एक ही कुल का मानेंगे और कुछ प्रतिनिधि वाद्यों का अध्ययन करेंगे।

दुंदुभि बहुत कुछ आज के नगाड़े से मिलती थी और शंकु आकार के वाद्यों में सबसे प्राचीन थी। वैदिक काल की अनेक संहिताओं, उपनिषदों, ब्राह्मणों और ऋग्वेद में भी इनका उल्लेख हुआ है। इस अध्ययन के दौरान प्राचीन संदर्भों से यह पता चलता है कि यह एक लोकप्रिय और प्रतिष्ठित वाद्य था। दोनों महाकाव्यों और तत्कालीन साहित्य में दुंदुभि का वर्णन एक युद्ध वाद्य के रूप में हुआ है। दुंदुभि का आधुनिक रूप शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त होने वाले धुमसा, निसान, नगाड़ा आदि हैं। संथालों का आदिवासी वाद्य धुमसा धातु की पतली चद्दर का बना होता है जिसका मुंह चौड़ा और पैंदा संकरा होता है। इसके आकार और वजन के बावजूद इसको कंधे से लटकाया जाता है और वादक एक जोड़ी छड़ियों से इसे जोर जोर से बजाते हुए नाचता है। रामायण जितना प्राचीन निसान गुजरात और राजस्थान में पाया जाता है, हालांकि उसके रूप अलग अलग होते हैं। निसान का उल्लेख मध्यकालीन हिंदी काव्य में और 13वीं सदी में लिखी एक संगीत पुस्तक में भी हुआ है। तब यह कांसे, तांबे या लोहे से बना चौड़े मुंह का पात्र होता था जिसके ऊपर भैंसे की खाल मढ़ी जाती थी और जिसे छड़ियों से बजाया जाता था। अपने प्राचीनतम संदर्भों से लेकर हमेशा इसे युद्ध का वाद्य ही माना गया है। इसके अवशेष अब भी उड़ीसा के निसान के रूप में देखे जा सकते हैं। इस क्षेत्र में डालखई नृत्य के दौरान इस वाद्य को बजाते समय अपने सिर पर वादक बारहसिंगे के एक जोड़ी सींग बांध लेते हैं। गले से लटके निसान को बजाते समय सींग से सींग भिड़ाकर एक नकली लड़ाई भी नृत्य की ताल के साथ चलती है। मंदिरों में भी पूजा के दौरान बजाने या पूजा के घोष के लिए दुंदुभि रखी जाती है। नगाड़ा पूरे उत्तर भारत में मिलने वाला एक सुपरिचित वाद्य है और बहुत संभव है कि इसका यह नाम पश्चिम एशिया से आया हो। आमतौर पर दो कटोरों के आकार के वाद्य लकड़ियों से बजाए जाते हैं और जोड़ी को नगाड़ा या नक्कारा कहा जाता है। दोनों में से छोटे की आवाज पैनी होती है और मादि या मादा कही जाती है, जबकि बड़े की आवाज भारी होती है उसे नर कहा जाता है। नगाड़ा या नक्कारा लोकनाट्यों, विवाहों, धार्मिक जुलूसों में प्रयोग किया जाता है जबकि इसका परंपरागत रूप से मिलने का स्थान नौबतखाना है।

एक संस्था की तरह अब यह नहीं पाये जाते हैं और रियासतों के साथ यह भी लुप्त हो गए हैं। नौबतखाना या नक्कारखाना हवेली की बुर्जी, महल के प्रवेशद्वार और युद्ध क्षेत्र के पास बनाया गया एक विशेष कक्ष होता था जिसमें विभिन्न शाही गतिविधियों और उत्सवों के ऐलान के लिए बजाने को अनेक वाद्य होते थे। ऐसा एक प्रसिद्ध नौबतखाना बादशाह अकबर का था जिसका अबुल फजल ने ब्यौरेवार वर्णन किया है, "नक्कारखाने में मौजूद साजों के बारे में बताऊं, (1) कुवर्गा आमतौर पर जिसे दमामा कहा जाता है, उनकी कोई अट्ठारह जोड़ियां हैं, उनकी आवाज भारी है। (2) नक्कारा जिसकी कोई बीस जोड़ियां हैं। (3) दुहुल चार इस्तेमाल होती हैं। (4) करना जो सोने, चांदी, पीतल और दूसरी धातुओं की बनी है, चार से कम नहीं बजायी जातीं। (5) फारसी और हिंदुस्तानी किस्म की सुरना जो नौ एक साथ बजायी जाती हैं (6) फारसी, विलायती और हिंदुस्तानी किस्म की नफीरी हर तरह की कई कई बजती हैं। (7) सींग पीतल के बने हैं और गाय के सींग जैसे होते हैं, एक साथ दो बजाए जाते हैं। (8) सांझ और झांझ जिनकी तीन जोड़ी इस्तेमाल की जाती हैं।"

"पहले रात होने से चार घड़ी पहले और इसी तरह सुबह होने से चार घड़ी पहले साज बजने लगते थे। अब पहले यह आधी रात को बजते हैं, जब सूरज अपना सफर



18. नक्कारा

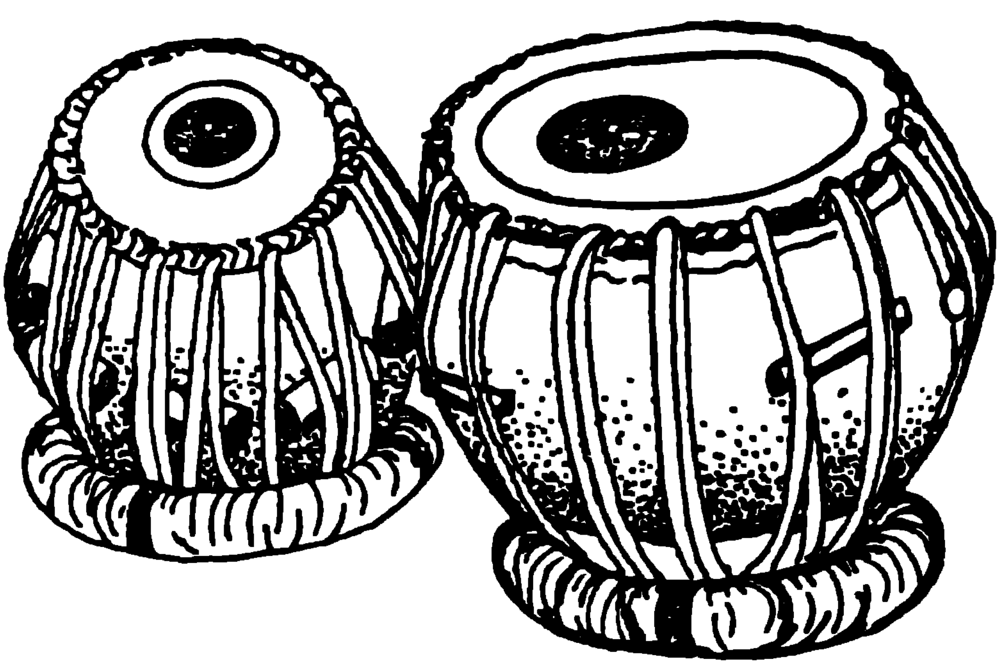
शुरू करता है, और दूसरी बार पौ फटने पर। सूरज उगने की एक घड़ी पहले साजिंदे सुरना बजाना शुरू करते हैं ताकि सोने वाले जाग जाएं और सूरज उगने के एक घड़ी बाद तक बजाते हैं। वह एक छोटा अलाप बजाते हैं, फिर तनिक कुवर्गा बजाते हैं, इसके बाद करना तथा नफीरी बजाते हैं और नक्कारा के अलावा और दूसरे साज थोड़ी देर बजाते हैं। थोड़ी देर बाद सुरना फिर बजाया जाता है, संगीत का समय नफीरी से पता चलता है। घंटे भर बाद नक्कारे बजते हैं जब सारे साजिंदे तार छेड़ देते हैं।" इसके बाद अलग अलग साजों पर सात तरह के संगीत का वर्णन आइन-ए-अकबरी में है। (दमामा अथवा कुवर्गा, दुहुल और नक्कारा ताल-वाद्य थे, करना और सींग तुरही थे, सुरना और नफीरी फूंक वाले वाद्य थे और सांझ या झांझ करताल थे। (18)

इस तरह के कटोरेनुमा वाद्य सारे देश में पाये जाते हैं। विस्तृत वर्णन के लिए उनके नाम और क्षेत्रीय रूप बहुत अधिक हैं। महाराष्ट्र का साम्बल उत्तर भारत का सुपरिचित ताशा जो शहनाई की संगत में काम आता है और तमिलनाडु का तमुक्कू तथा कर्नाटक का ताशे इनमें से खासतौर से चर्चा करने योग्य हैं।

सितार की ही तरह इतिहास और उद्भव को लेकर तबला भी अनेक विवादों से घिरा है। इसके नाम एवं इतिहास की तुलना सदैव पूर्ववर्ती वाद्यों से करने के प्रयास में यह बहस हमेशा तेज हो जाती है। तबला की बात ही लें, तबला शब्द फारसी भाषा का है और आमतौर पर अवनद्ध-वाद्यों के लिए प्रयोग किये जाने वाला शब्द है, लेकिन क्या यह वाद्य फारसी है ? क्या यह संभव है कि बहुत पहले भारत आए इन लोगों ने यहां पाये जाने वाले देशी वाद्यों में से किसी को यह नाम दिया हो ? यह नक्कारा से विपरीत है जिसका भारतीय समरूप दुंदुभि, निसान जैसे वाद्यों के रूप में पहले ही था। इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि तबला का उद्भव भारतीय है। हमने पहले भी देखा है कि शंकु के आकार के वाद्यों का चलन बहुत पुराना है और ईसा की तीसरी शताब्दी की मूर्तिकला में इसका प्रमाण है। जिसमें तमुक्कू जैसे वाद्य यंत्र को एक महिला गोद में रखकर हाथ से बजा रही है। वाद्य को गोद में रख कर बजाने की खासियत डग्गा की है जोकि तबला की जोड़ी में से एक है और बजाया भी हाथ से जाता है। फिर कई पर्त वाली झिल्ली का चढ़ना भारतीय अवनद्ध-वाद्यों में बहुत आम है और यही तबला में भी है। इसके अतिरिक्त मढ़े हुए चमढ़े पर एक खास क़िस्म के मिश्रण का लेप भारत (और बर्मा) की खासियत है। एक समय में दो या अधिक ताल-वाद्यों के एक साथ वादन की हमारी परंपरा युगों पुरानी है। ये सभी प्रमाण तबला के भारतीय मूल के होने की पुष्टि करते हैं। यह संभव है कि भारतीय वाद्य को फारसी नाम मिल गए होंगे और उत्तर भारत मध्यकाल के उपरांत तदनुसार विकसित हुए होंगे। यह अचरज की बात है कि न आइन-ए-अकबरी और न तत्कालीन संगीत के ग्रंथ संगीत-पारिजात में इस वाद्य की

कोई चर्चा है यद्यपि लगभग 14 वीं शताब्दी में असमिया साहित्य में उसका उल्लेख मिलता है।

तबला जैसाकि अब हम देखते हैं, दो वाद्यों की जोड़ी है जो सम्मिलित रूप से तबला कही जाती है। इनमें से एक तबला है और दूसरा डग्गा (डग्गी या बायां है)। तबला लकड़ी का बना होता है और नीचे से संकरा तथा ऊपर से चौड़ा होता है। इसका मुख बहुत कुछ पखावज जैसा होता है, इसमें बीच वाली पर्त भी लगभग मुख जितनी ही चौड़ी होती है और लगभग दो सेंटीमीटर चौड़ी चमड़े की पट्टी से सब ओर जुड़ी रहती है। चमड़े के इस छल्ले को हिंदी में चांटी या किनारा कहते हैं जो एक चमड़े के कड़े से मजबूती से सिला रहता है जिसे गजरा कहते हैं। चांटी और गजरे के मिलने से बनी यह केंद्रीय रचना जो सम्मिलित रूप से प्रायः पुड़ी कही जाती है। चमड़े की डोरियों से ही गजरे और पैंदे में लगी चमड़े की इंडुली में हो कर खुले मुख पर कस दी जाती है। डोरियों और तबले की दीवारों के बीच लकड़ी के गुटके फंसा दिये जाते हैं। मोटे तौर पर यह गुटके सुर के साथ मिलाने को इस्तेमाल किये जाते हैं। बारीक मिलान के लिए गजरा को ऊपर ठोंक कर सुर धीमा और नीचे ठोंक कर तेज किया जा सकता है। पखावज की तरह तबला में भी बीच में स्याही

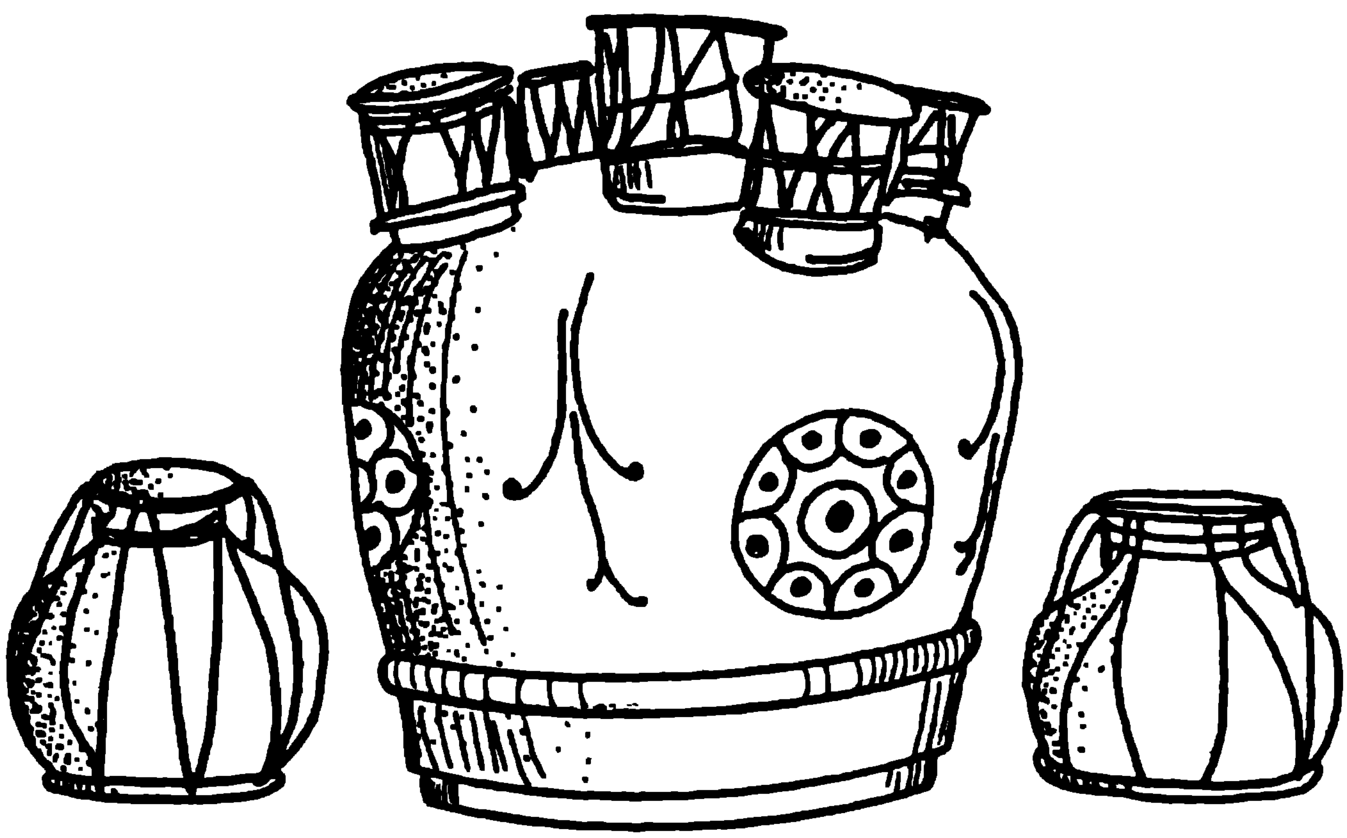


19. तबला और डग्गा

लगायी जाती है। डग्गा अपने साथी से ठीक उल्टा होता है और यह तली में संकरा और मुख पर चौड़ा होता है और एक छोटे नगाड़े की तरह लगता है। पुड़ी भी तबला की तरह बनायी और लगायी जाती है केवल स्याही के सिवा जो बीच में नहीं बल्कि किनारे पर लगायी जाती है। यह पहले लकड़ी या मिट्टी का बनाया जाता था और अब धातु का बनाया जाता है। तबला में जहां कि बहुत बारीकी से सुर मिलाना संभव

है वहीं डग्गा में यह संभव नहीं है क्योंकि उसमें डोरियों के नीचे लकड़ी के गुटके भी नहीं होते। दायां तबला ऊंगलियों के मध्य और हथेली से बजाया जाता है, जबकि बायां ऊंगलियों की पोरों, हथेली के मध्य भाग और अंत से बजाया जाता है। हाथों की इन गतियों के निश्चित नाम होते हैं, और उनको विभिन्न तरीकों में मिलाया जाता है जिनसे अनेक शैलियां बनती हैं। दिल्ली घराना, अजरहा घराना, फर्रुखाबाद घराना, लखनऊ-बनारस घराना आदि। (19)

दो से अधिक मुख वाले वाद्य भी शायद पाये जाते थे हालांकि अब ये दुष्प्राप्य हैं। प्राचीन संगीत साहित्य में कहीं कहीं 'त्रिपुष्कर' का उल्लेख हुआ है, जिसका अलग अलग तरह से भाष्य किया जाता है। इसका एक अर्थ यह हो सकता है कि इसका



20. पंचमुखी वाद्य तथा कुदामुझा वाद्य

मृदंग, पणव और दर्दुर, इन तीन अवनद्ध-वाद्यों की ओर संकेत है। दूसरा मत यह है कि इसका आशय मृदंग की तीन स्थितियों ऊर्ध्वक, अंकया, तथा आलिंग्य से हो, त्रिपुष्कर का अर्थ अलग अलग स्थिति में रख कर इन वाद्यों के वादन से है। जबकि कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें तीनों तरह का एक एक वाद्य सम्मिलित किया गया होगा वहीं कुछ अन्य विद्वानों का मत है त्रिपुष्कर का अर्थ एक तीन मुख वाला वाद्य है। कर्नाटक में विजयनगर रियासत की राजधानी हम्पी में ऐसी मूर्तियां मिली हैं जहां तीन मुख का मृदंग बजाते हुए दिखाया गया है। राजस्थान में 11वीं शताब्दी के दिलवाड़ा मंदिरों में चार मुखों वाले वाद्य को बजाते वादक को एक मूर्ति पटल में दिखाया गया है। दक्षिण भारत के मंदिरों में उत्कीर्ण पंचमुखी वाद्य अब भी कुछ जगह पूजा के समय बजाया जाता है। यह तांबे या पीतल का बना एक बड़ा बर्तन

होता है, जिसे मंदिर में एक से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए लकड़ी की गाड़ी पर चढ़ाना पड़ता है। इस पात्र के ऊपर नली जैसी पांच रचनाएं होती हैं जो वाद्य के मुख हैं और दुधारू गाय के चमड़े से मढ़े जाते हैं। वादन के समय पंचमुखी वाद्य के पास धातु के बने दो कुदामुझा वाद्य भी रखे होते हैं। अतः इस तरह कुल मिला कर इसके सात मुख होते हैं। यह दावा किया जाता है कि संगीत की पुरानी पद्धति के अनुसार ये सात सुर जिन्हें षड़ज ग्राम कहा जाता है, उनसे मिले रहते हैं। इन पांच मुखों के नाम भगवान शिव के नाम पर होते हैं। बीच का मुख ईशान है, उत्तर का वामदेव, पूर्व का तत्पुरुष, दक्षिण का अघोर और पश्चिम का सद्योजात। दिशा सूचक की दिशा वादक की स्थिति से आंकी जा सकती है; जहां वह खड़ा है वह उत्तर, उसके बायें पूर्व, और इसी क्रम में दक्षिण और पश्चिम होंगे। (20)

अवनद्ध-वाद्यों में घर्षण-वाद्यों की चर्चा करने से पहले कुछ शब्द वाद्यों के मुखों के निर्माण और वादन की शैलियों के महत्व के विषय में भी कहे जाने चाहिएं जिन्होंने संगीत की दुनिया में भारत को बेजोड़ स्थान दिलाया है।

डफ, खंजरी, अथवा नगाड़े में खाल सीधे ढांचे पर मढ़ी जाती है। कुछ में ज्यादा से ज्यादा पहले इसे कड़े पर लगाया जाता है। फिर वह कड़ा वाद्य के मुख पर कस दिया जाता है। यह सीधा तरीका पाश्चात्य वाद्यों में भी प्रयुक्त होता है। आगे, इन सबमें खाल भी सादा होती है। ढांचे पर सीधे खाल को मढ़ना और खाल का सादा होना ये दोनों ही बातें वाद्य के अच्छे संगीत के सुर में होने में बाधा हैं। वाद्यों के ऐसे मुख शोर युक्त समझे जाते हैं। एक-से खिंचाव के अभाव में इनके सुर कठिनाई से मिलते हैं। इन दोषों को मृदंग, पखावज और तबला जैसे सुधरे हुए वाद्यों में अनेक परिवर्तन कर दूर कर दिया गया है।

पहला उपाय तो खाल को एक समान खींचना है। यह देखा गया होगा कि बीच की खाल एक या दो पर्तों वाली चांटी से ही लगी रहती है। गजरा या छल्ले से यह चांटी जुड़ती है, बीच वाली पर्त नहीं। इसको भी बहुत सोच विचार कर सावधानी से किया जाता है। चांटी गजरे से यों ही ज्यों त्यों नहीं जोड़ दी जाती बल्कि समान दूरी पर और पास पास बने छेदों से चांटी गजरे से जोड़ी जाती है। यह सभी तरीके खाल को पूरी गोलाई पर एक-सा खींच कर लगाते हैं। इस तरह चांटी खाल को धातु के किनारे के सीधे संपर्क में आने से रोक कर उसकी टूट फूट को रोकती है।

अगला उपाय खाल पर लेप करना है। जैसाकि पहले चर्चा की गयी है यह आटे का एक अस्थायी या (स्याही, कारनाई अथवा सोरू का) स्थायी मिश्रण लगा कर किया जाता है। वैज्ञानिक प्रयोगों ने, जिनमें से पहला सी. वी. रामन ने कुछ दशक पहले किया था, यह सिद्ध किया है कि यह प्रक्रिया शोर को काफी कुछ कम करती है और खाल से सुरीली आवाज भी निकालती है। लेपन का यह तरीका हमारे देश में सदियों

से अपनाया गया है। भरत (200 ई. पू.–200 ईस्वी) ने इसे विलेपन अथवा रोहण कहा है और इसके लिए प्रयुक्त की जाने वाली सामग्री का वर्णन इस प्रकार किया है, "अब (इस कार्य के लिए उपयुक्त) मिट्टी के गुण सुनो, जो मिट्टी कंकड़ रहित, रेत रहित, तृण रहित हो, भूसी, चोकर आदि से रहित हो, जो बहुत चिकनी न हो, श्वेत न हो, खारी अथवा कड़ुवी न हो, काली न हो, पोली न हो, रूखी न हो...इन अवगुणों से रहित नदी किनारे की उस मिट्टी को जो मुधर तथा श्याम रंग वाली हो, प्रयोग की जानी चाहिए। यदि इस प्रकार की मिट्टी न मिले तो इस काम के लिए गेहूं अथवा जौ के आटे का प्रयोग करना चाहिए। कभी कभी गेहूं और जौ के आटे का मिश्रण भी इस्तेमाल किया जाता है। इसमें एक कमी यह है कि सुरों में नीरसता आ जाती है"..."लेकिन मृदंग पर गाय के घी अथवा तेल में खली मिला कर रोहण नहीं करना चाहिए। मृदंग और पखावज के (कभी कभी डग्गा के भी) बायें मुख पर अब भी आटे का लेप किया जाता है, जबकि अनेक मिश्रण खोज लिए गए हैं। काली सोरू (अथवा करनाई) तथा स्याही के लिए बहुत अच्छे मिश्रण वाद्य के मुख पर लेप के लिए उपलब्ध हैं। पूर्व मध्यकाल में चावल के आटे, लकड़ी के बुरादे और शीरे का प्रयोग प्लास्तर के लिए किया जाने लगा और 17 वीं शताब्दी तक लोहे के चूर्ण का भी प्रयोग होने लगा। आजकल काला मिश्रण गोंद, लौह या मैंग्नीज चूर्ण, चारकोल चूरा तथा गेहूं अथवा चावल के आटे को मिलाकर बनाया जाता है। स्याही चढ़ाने का यह तरीका परीक्षित है और इसे ठीक विधि से करना होता है। पहले नंगी खाल पर इस लेप की एक पर्त वांछित जगह पर जमायी जाती है। गीली रहते हुए ही इसे भारी पत्थर से पालिश कर एकसार किया जाता है। इस पर्त के सूखने से पहले ही इससे थोड़ी सी छोटी एक और पर्त जमायी जाती है और उस पर भी गीले रहते ही पत्थर से पालिश की जाती है। इस तरह पर्त के ऊपर पर्त लगायी जाती है, हर पर्त पिछली पर्त से छोटी होती जाती है। वाद्य के मुख के आकार के अनुसार और आवाज की आवृति के हिसाब से इन पर्तों की गिनती तय की जाती है।

पखावज और तबला के घरानों की चर्चा करते समय वाद्य पर बजने वाले भिन्न ठेकों का हवाला भी आया था। भारतीय ताल-वाद्यों की यह महत्वपूर्ण विशेषता है। मारने की जगह के हिसाब से हर ठेके को पूरी तौर पर ऊंगलियों की स्थिति, हथेली की स्थिति आदि के अनुसार भी परिभाषित किया जाता है। आदिवासी संगीत में भी प्रायः ऐसा ही है, जैसे कि संथाल इस को 'राड' कहते हैं। शास्त्रीय संगीत में इसका नाम 'पटाक्षर' या केवल पट अथवा अक्षर ही कहा जाता है। आजकल के चलन में पखावज में यह क्रम थापी कहा जाता है, तबला में बोल और मृदंग में शोल्लु कहा जाता है। इन पटों के तालबद्ध करने की कई शैलियां हैं। हिंदुस्तानी संगीत में इन्हें परण, कायदा, रेला आदि कहा जाता है और कर्नाटक संगीत में शोलकट्टु। किसी भी रीति से पटों का स्मरण रखना वादक को न केवल उन्हें वाद्य पर निकालने

में सरलता प्रदान करता है बल्कि वादन की सही दिशा भी प्रदान करता है। हिंदुस्तानी संगीत में ताल अथवा बोल या थापी को परिभाषित करने को ठेका कहते हैं। जिससे ताल विशेष को पहचाना जाता है।

भारत में घर्षण-वाद्य अधिक नहीं हैं। दक्षिण भारत में मरियम्मा मंदिर के पुजारियों द्वारा बजाया जाने वाला वाद्य बुरबुरी इनमें से एक है, जो दो मुख वाला बेलनाकार वाद्य है। दायें हाथ से जहां सीधी छड़ी से तान दी जाती है वहीं बायीं ओर एक मुड़ी हुई डंडी से इसे रगड़ा जाता है। तमिलनाडु में पाये जाने वाले उरुभी वाद्य में भी यही तरीका अपनाया जाता है।

सुषिर-वाद्य

पहले सुषिर-वाद्य की कल्पना कैसे की गयी ? इसके आदि प्रकार कैसे थे और विश्व में कहां पाये गए ? भारत में पहला सुषिर-वाद्य कहां और कब अस्तित्व में आया ? दुर्भाग्य से, इन सवालों का उत्तर देना संभव भी हो तो आसान नहीं है। मिट्टी के ताल-वाद्य, तंतु-वाद्यों के अवशेष और प्रागैतिहासिक झांझ तथा ऐसी अन्य सामग्री ने जहां इस वर्ग के वाद्य यंत्रों के उद्भव के संकेत दिये वहीं, ये वाद्य सामाजिक उत्सवों से ऐसे जुड़े हुए नहीं हैं कि हम इनके स्त्रोतों के विषय में कोई निष्कर्ष निकाल सकें।

एक लोकप्रिय विश्वास यह है कि जंगल में बांसों के छिद्र से सीटी बजाती हवा ने मनुष्य को पहला सुषिर-वाद्य बनाना सिखाया होगा। हालांकि यह जंगलों में प्रायः होती है लेकिन इसका संबंध ठोस यंत्रों, अवनद्ध-वाद्यों और आगे चर्चा किये जाने वाले तंतु-वाद्यों की तरह मानवीय क्रिया से नहीं है। अतः कुछ और कारण ढूंढना चाहिए, कारण यहां सुझाए जा रहे हैं। पहला और सबसे स्वाभाविक कारण तो सीटी बजाना ही है जो पुराना तो है ही और बालक से वृद्धों तक (खासकर पुरुषों द्वारा) की जाने वाली क्रिया है। यह एक शारीरिक क्रिया है जिसने बड़ी आसानी से फूंक से बजने वाले यंत्रों को बनाना सुझाया होगा। संभवतः पाठकों ने भी कुछ ग्रामीण अंचलों में लोगों को मुंह के आगे ढीली और खाली मुट्ठी रख कर बात करते देखा हो जो कि आदरसूचक है। इसी आदत का विस्तृत रूप कुछ जनजातियों में देखने को मिलता है, जैसे कि ब्राजील में, खोखली शाखों को काट कर या शंकु के आकार के भोंपू बना कर बजाने वाला उसमें बोलता, गाता या दहाड़ता है। वह संगीत की आवाज के लिए संघर्ष नहीं करता बल्कि दुष्ट आत्माओं को डराने के लिए अपनी स्वाभाविक आवाज को बिगाड़ कर कर्कश बना लेता है। दूसरा उदाहरण न्यू गिनी के एक यात्री का है जिसने देखा कि सरदार मुख के सामने सदैव एक शंख लगाये रखता है, जिससे कि "उसकी आवाज में एक गूंज हो"। हमारे गांव और कस्बे के घरों में लकड़ी या धातु की फूंकनी को आग सुलगाने के लिए प्रयोग में लाना औरतों का रोज का काम है। बोतलों को मुंह से लगाकर फूंकने का खेल हम सभी ने खेला है। सीटी, भोंपू, शंख, फूंकनी मे आदि सुषिर-वाद्यों को जन्म दिया होगा और एक

बार फिर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गैर-सांगीतिक उपकरण ही वाद्य यंत्रों के जनक रहे होंगे।

प्राचीन मानव सभ्यताओं में यदि लकड़ी के सुषिर-वाद्य रहे भी होंगे तो वे उत्खनन के समय प्रकाश में नहीं आ सके होंगे क्योंकि बांस अथवा अन्य किसी लकड़ी जैसी वानस्पतिक सामग्री हवा-पानी से नष्ट होने से नहीं बच सकी होगी। अतः प्राचीन काल के प्राप्य वाद्य यंत्रों में हड्डियों से निर्मित सीटी, तुरही, बांसुरी के मिलने में कोई आश्चर्य नहीं है। आदि सुषिर-वाद्यों में से पहली अस्थि की बनी रंध्रों वाली बांसुरी है। शहनाई और नागस्वरम् जैसे यंत्र वास्तव में बहुत नए हैं। हमारे देश में सिंधु घाटी की सभ्यता के उत्खनन में चिड़िया की आकृति की मिट्टी की बनी सीटियां आदि ही निकली हैं। अस्थि से बने सुषिर-वाद्य हिमालय में आज भी पाये जाते हैं। एक विद्वान का मत है कि सुषिर-वाद्य आंध्र और उड़ीसा के पहाड़ी इलाकों में रहने वाली सावरा जाति के लोगों द्वारा खोजे गए थे। बांसुरी के बनने के बारे में न्यू गिनी में एक रोचक कहानी प्रचिलत है, "एक दिन एक पुरुष अपनी पत्नी के साथ जंगल में फल लेने गया। आदमी एक ऊंचे पेड़ के ऊपर चढ़ गया और ऊपर से फल नीचे फैंकने लगा तथा औरत उन्हें उठाकर इकट्ठा करने लगी। अचानक एक बड़ा फल सूखे बांस के पेड़ पर गिर पड़ा और जोर की आवाज के साथ बांस फट पड़ा। औरत डर कर भागी क्योंकि उसे पता न चला कि आवाज है किसकी। बांस की दरार में से कैसोवारी (मलेशिया के विश्वास के अनुसार पुनर्जन्म का प्रतीक) जोर की आवाज करके निकला। आदमी ने उस चिड़िया के चारों ओर तुरंत एक बाड़ बना दी, और गांव की ओर भागा और अपने दोस्तों को जो हुआ था सो बताया। वे बांस के टुकड़े काटने लगे और उनसे आवाज निकालने की कोशिश करने लगे और अंत में इस परिणाम पर पहुंचे कि बांस के टुकड़े में फूंक से वे कैसोवारी जैसी आवाज निकाल सकते हैं। यह पहली बांसुरी थी।"

अवनद्ध-वाद्यों की तरह सुषिर-वाद्य, विशेषकर तुरही और बांसुरी का सामाजिक-धार्मिक संबंध है और ये उत्सवों से जुड़े हैं। इन दोनों वाद्यों का प्राचीन और आधुनिक सभ्यताओं में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। कुछ आदि मानव जातियों में अगर कोई स्त्री तुरही देख लेती थी तो उसे मार दिया जाता था क्योंकि तुरही को 'नर' माना जाता था। वास्तव में, कुछ नृविज्ञानी मानते हैं कि इसी पौरुष के कारण यह वाद्य युद्ध में सूचक की भूमिका निभाता है। बांसुरी को भी ऐसा ही पौरुष का प्रतीक मानते हैं, उदाहरणार्थ न्यू गिनी में लगभग छह मीटर लंबी कुछ बांसुरियों की कुछ यौन प्रक्रियाओं में विशेष भूमिका है। आसाम के ल्होटा नागाओं में लगभग एक मीटर लंबी बांस की पतली बांसुरी जिसे फिलिलि अथवा फिफली कहते हैं, एक खास वाद्य है और प्रेम में इसके महत्व का वर्णन निल्स ने किया है, "मूरांग (कुंआरों का निवास)

में लेटे युवाओं में यह वाद्य बहुत लोकप्रिय है। हर गांव में हरेक बाला का नाम संगीत के कुछ सुरों के मेल से बन जाता है और हालांकि अजीब लग सकता है लेकिन किसी भी सुनने वाले को इस पर कोई हैरानी नहीं होती कि किसी महिला की इज्जत कैसे उछाली जा रही है।" हटन ने देखा कि पूर्वी पहाड़ियों के सेमा नागाओं में फुलुलु नामक वंशी के प्रयोग के बारे में कुछ रूढ़ियां हैं, "यह कहा जाता है कि इस वंशी का प्रयोग स्त्रियों के लिए इस डर से वर्जित है कि चतुराई से इसे बजाकर वे नौजवानों को छल लेती हैं...धान की बुआई और पकने के मध्य पुरुष भी फुलुलु नहीं बजा सकते कि उससे फसल नाश करने वाली हवाओं का अंदेशा होता है।" औरतों और धान की बुआई से फुलुलु का लिंगिक संबंध इतना स्पष्ट है कि उसके विषय में और वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। कृष्ण की वंशी की तान भी गोपियों को टेरती थी, इस पर ध्यान रखें। वृंदावन की गोपियां वंशी से ईर्ष्या करती हैं और कहती हैं, "हमें अचरज है कि इस वंशी ने ऐसे कौन से पुण्य किये हैं कि उनके अधरामृत का पान करती है और जूठन हमारे लिए छोड़ देती है। और जैसे बुजुर्ग अपनी बेटियों के विवाह में मिलन पर प्रसन्न होते हैं ऐसे ही बांस वृक्ष और नदी आनंदाश्रु बहा रहे हैं।" लेकिन यही संगीत मानव आत्मा को परमात्मा की पुकार का प्रतीक भी बन गया है। यह शृंगार यों अलौकिक में बदल जाता है, स्त्री-पुरुष का प्रेम राधा कृष्ण के प्रेम में बदल जाता है जिसका भक्तों ने गान किया है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि लौकिक महत्व से बहुत आगे जा चुकी है बांसुरी। मनुष्य का दिमाग वंशी की तरह खाली करना चाहिए ताकि उसकी सांस इसके अंदर आए और उसकी बजायी धुन आगे निकले। सर्वविदित तथ्य है कि परातीन्द्रिय अवस्था में वंशी, नगाड़े, शंख और घंटा ध्वनि सुनायी देती हैं।

सुषिर-वाद्यों के दो वर्ग हैं, पहले वर्ग में कोई यांत्रिक नली नहीं लगी होती। इस वर्ग में बिगुल, तुरही, सींग तथा कुछ प्रकार की बांसुरी आती हैं, जिनमें से हरेक वाद्य के अनेक भेद हैं। दूसरे वर्ग में नलिका में एक यांत्रिक नली या रीड लगी होती है। ऐसे सुषिर-वाद्यों को आगे अनेक वर्गों में विभाजित किया गया है, जैसे एक नली वाले, दो नली वाले, मुक्त नली वाले। यहां वर्णित सभी वाद्यों में नली के अंदर हवा की मात्रा ध्वनि की आवृति और प्रकार को नियंत्रित करती है, अधर और नली तो केवल हवा के आवागमन को नियंत्रित करने वाले कपाट अथवा वाल्व का कार्य भर करते हैं। लेकिन दूसरी ओर हारमोनियम में हवा केवल नली को उठाती-गिराती है और जो आवाज हम सुनते हैं वह हवा की गूंज नहीं बल्कि साज में लगी धातु की पत्तियों की होती है। इस कारण से यह प्रश्न उठता है कि इस प्रकार के वाद्यों को सुषिर-वाद्य कहना चाहिए अथवा नहीं !"

पिछले अध्याय में दिये गये तर्कों की तर्ज पर ही यह भी उपयुक्त है कि

प्राकृतिक रूप में मिलने वाली नलिकाओं को हम सुषिर-वाद्य मानें। ऐसी सामग्री में पशुओं के सींग, सूखी हड्डियां, शंख, बांस और पेड़ के खोखले तने आदि हैं। हमें देखना है कि कैसे यह सामग्री सुषिर-वाद्यों के रूप में प्रयुक्त होने लगी होगी।

पशुओं के सींग हमें सबसे पुराने समय से ज्ञात तुरही है। बैल और भैंसों के सींग बहुत प्राचीन काल से वाद्यों के रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं। सुमेर सभ्यता में प्राप्त **सी-इम** में, **सी** का अर्थ सींग और **इम** का अर्थ है हवा। यह प्राचीन सींग पहले बैल के और बाद में धातु के बने होने लगे। प्राचीन यहूदी ग्रंथों में बकरी अथवा मेंढ़े के सींग के प्रयोग का वर्णन मिलता है। इसके सींग को भाप में गर्म करके बनाया जाता था ताकि यह कोमल हो जाए तथा इसकी भीतरी मज्जा निकल जाए और सींग मुड़ जाए। नववर्ष के अवसर पर मंदिरों में बजाया जाने वाला सींग बकरी का होता था, जिसका नल सोने से मढ़ा जाता था। उपवास के दिनों में बजने वाले सींग मेंढ़े के, गोल और चांदी से मढ़े नल वाले होते थे।

इससे प्राचीन काल से ही नल का प्रयोग होने की पुष्टि होती है। सबसे सादी और प्राचीन तुरही में हवा सीधे ही नलिका में फूंक दी जाती थी, बिना किसी यांत्रिक झमेले के, लेकिन नल लगाने से फूंक भरते समय अधरों के विश्राम, दबाव और हवा के नियंत्रण का काम सुविधाजनक हो जाता है। यह नल एक छोटी, चपटी, गोल प्लेट होती है, जिसमें एक छेद होता है। सींग और शंख एक ही ओर से बजाए जा सकने के कारण छोर से बजाए जाने वाली तुरही कहलाते हैं। कभी कभी हवा संकरे छोर पर बगल में बने छेद से फूंकी जाती है, जिसे किनारे से बजायी जाने वाली तुरही कहते हैं, जिसमें किसी नल की जरूरत नहीं होती। तुरही, शंख और सींग में वादक के हिलते अधर नली में प्रवेश करती हवा को नियंत्रित करते हैं। इस प्रक्रिया की कमी यह है कि इस प्रकार के वाद्य संगीत की बारीकियों में काम के नहीं होते अतः हमेशा उन्हें बाहरी वाद्य यंत्र माना जाता रहा है।

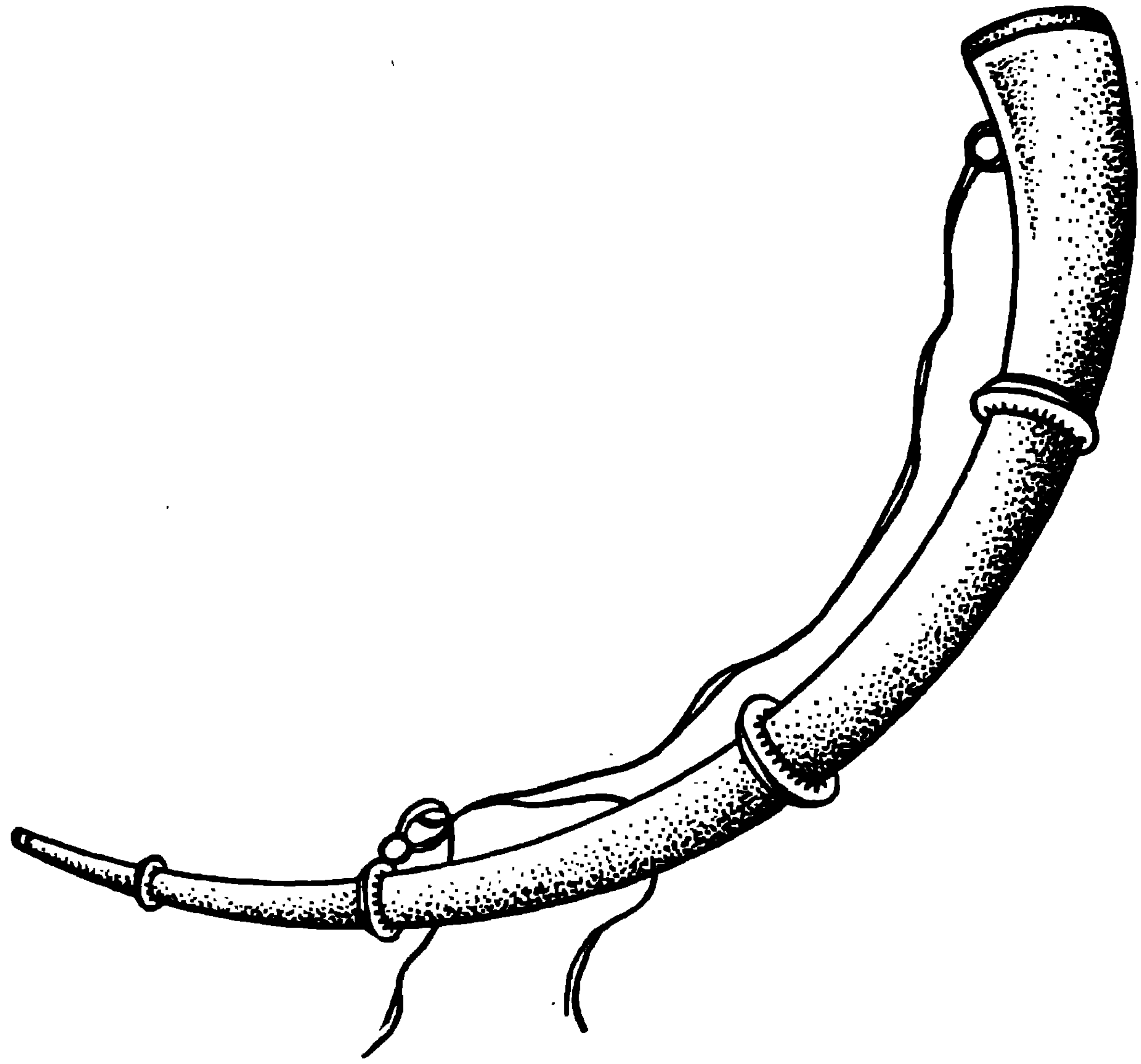
हमारे देश में सींग यों तो आदि वाद्य है लेकिन अब भी लोक और आदिवासी संगीत में प्रयुक्त किया जाता है। प्रयुक्त होने वाला शब्द आर्य भाषाओं में *शृंग* अथवा उसका कोई पर्याय और द्रविड़ में कोम्बु अथवा उसका कोई पर्याय; दोनों का ही अर्थ सींग है। बाद के सभी सींगों में सबसे पुराना निश्चित रूप से पशु का सींग ही था क्योंकि बाद में इस शब्द का प्रयोग धातु के बने भिन्न आकार प्रकार के सींगों के लिए हुआ है। आदिवासी जीवन में *शृंग* शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ भील इसे सींग कहते हैं। मध्यप्रदेश के मड़िया इसे कोहुक कहते हैं। उत्तर-पूर्व के आदिवासी क्षेत्र में अंगामी और ल्होटा नागाओं द्वारा भैंसों के सींग का प्रयोग होता है, जिसे अंगामी **रेलि-की** कहते हैं, जोकि आधा मीटर लंबा होता है और नल या

माउथपीस की तरह काम आने के लिए जिसमें बांस की एक छोटी-सी नली लगी होती है। संथालों के पास **साकना है**, जो भैंसों का सींग है। इस पशु तथा हिरन के सींगों का प्रयोग उत्तरप्रदेश में किया जाता है। पहले को **विसान** और दूसरे को **सिंगी** कहते हैं। हिरन की तुरही का शिव से विशेष संबंध है क्योंकि यह उल्लेखनीय है कि शिव के एक हाथ में हिरन भी है।

अभी तक गिनाये गए सभी सींग ऊपरी छोर से बजाए जाते हैं, वहीं उड़ीसा के संथालों का **सिंघा** किनारे से बजाया जाने वाला वाद्य है। सींग के संकरे हिस्से में एक छेद होता है और बजाने के लिए वादक अपने होंठ इस पर लगाता है।

लोक-साहित्य में स्वाभाविक रूप से इस प्रकार की तुरही का संदर्भ कई जगह आता है विशेषकर नायकों की बहादुरी की कथाओं वाले आल्हा में। कटमाराजु कथा नामक एक तेलुगु लोककथा है जिसमें नल्लसिद्धि के रणक्षेत्र में जाने का उल्लेख है। कूच का वर्णन इस वीर गाथा में इस प्रकार है, "सिपाहियों ने बिना रुके नफीरी बजायी, बुर्गा (तुरही) और कोम्बु (सींग) ऐसे सुनायी दिये जैसे बहादुरों की कूच से धरती थर्रा रही हो।" जैसाकि पहले भी उल्लेख हुआ है सिंगा और कोम्बु शब्दों का प्रयोग धातु के बने विभिन्न प्रकार के सींगों के लिए भी होता है और यह तथ्य साहित्यिक संदर्भों को संदिग्ध बना देता है। इसलिए यह तय नहीं किया जा सकता कि विशेष संदर्भ प्राकृतिक सींग के लिए है अथवा मानव निर्मित यंत्र के लिए। इस प्रकार पुस्तकीय संदर्भ सदैव विश्वसनीय नहीं होते। संस्कृत और तत्संबंधी भाषाओं में अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। जातकों में तूर्य का वर्णन है जिसका अर्थ संभवतः तुरही है, लेकिन यह यंत्रों की एक समूहवाचक संज्ञा भी है। पालि में 'मिलिन्द प्रश्न' नामक एक बौद्ध ग्रंथ में सिंग शब्द का उल्लेख है। महाभारत में गौविशानिका है, जो शायद गाय का सींग है। भागवत में कृष्ण को श्रृंग प्रिय कहा गया है और एक घटना है जहां वे अपने साथी ग्वालों को श्रृंग बजाकर जगाते हैं। संगीत ग्रंथों में श्रृंग को एक सुषिर-वाद्य के रूप में दिखाया गया है जैसाकि 'संगीत मार्तण्ड' और उनके बाद के ग्रंथों में बताया जाता है।

दक्षिण भारत में अब मिलने वाला कोम्बु पीतल अथवा तांबे का बना हुआ अंग्रेजी के **सी** अक्षर के आकार की तुरही है, जो तीन हिस्सों में बनी होती है। फूंक मारने वाले छोर पर माउथपीस अथवा नल लगी होती है, और बाहरी भाग एक गोलाकार झालर के रूप में फैल जाता है। कोम्बु विवाह के अवसर पर और धार्मिक शोभा यात्राओं में बजाया जाता है, अर्थी के आगे भी इसे बजाया जाता है। यह पंचवाद्यों में से एक है। प्रायः छोटे आकार के कोम्बु को मिमिरि कोम्बु और बड़े को बड़ी कोम्बु कहा जाता है। (21)

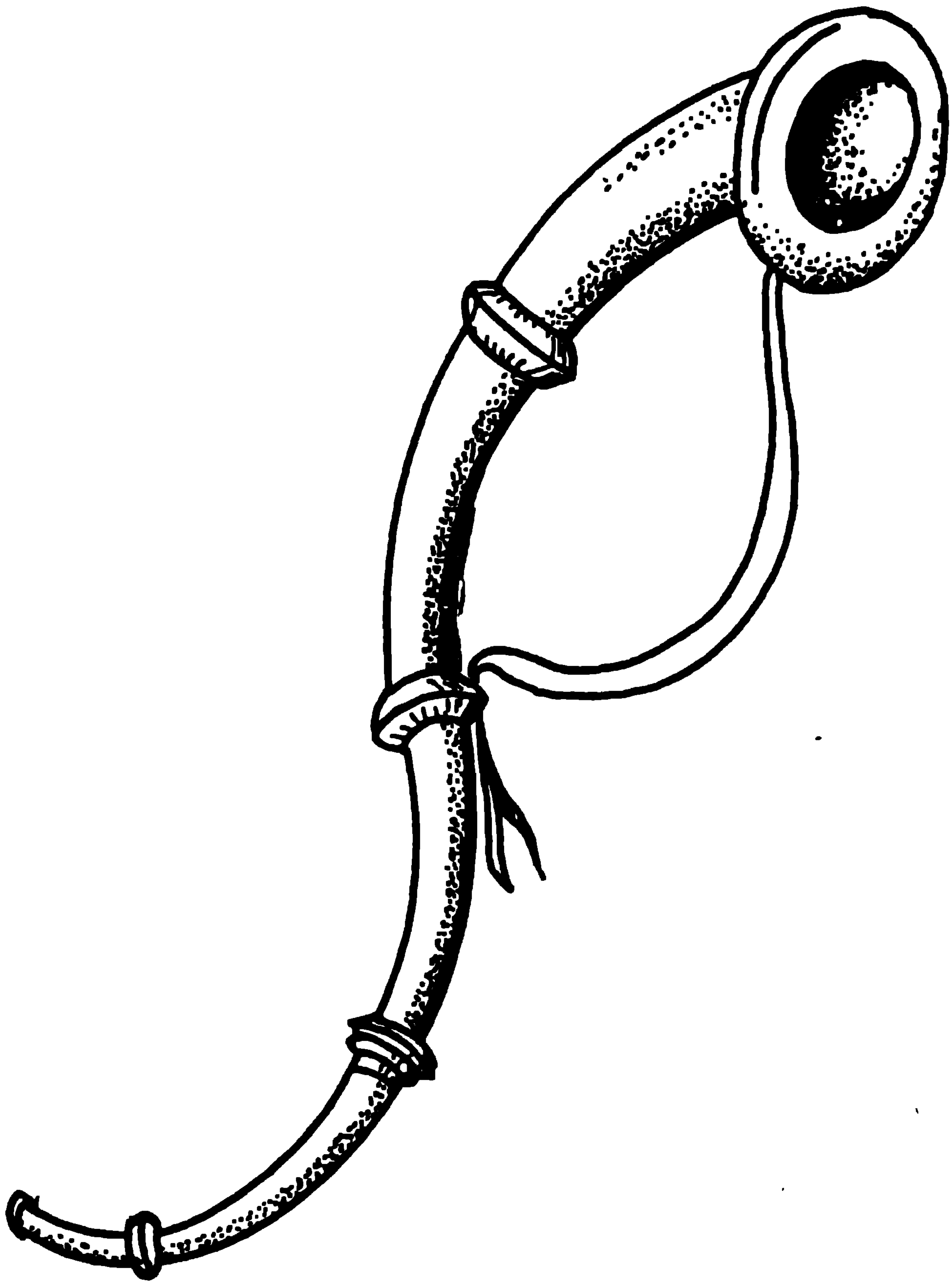


21. कोम्बु

यहां वर्णित कोम्बु से आकार में बड़ा एक और कोम्बु है, जो अंग्रेजी के एस अक्षर की तरह होता है। इस वाद्य के कई नाम हैं : उत्तर में **तूरी**, राजस्थान में **बांकया** अथवा **वारगु**, कर्नाटक में **बांके**, मध्यप्रदेश में **रणसिंघा** और हिमाचलप्रदेश में **नरसिंघा**। इसका एक और रूप गुजरात में **नागफनी** कहा जाता है। जैसाकि नाम से प्रकट है कि वाद्य नाग के आकार का होता है और मुख की झालर फन जैसी होती है जिसका मुख खुला और दो जीभ वाला होता है। (22)

सबसे पहली सीधी तुरही संभवतः अस्थि से ही बनी थी। बौद्ध तंत्र से संबद्ध हिमालय क्षेत्र के अतिरिक्त भारत में इसका कहीं मिलना प्रतीत नहीं होता। अस्थि निर्मित तुरही को **खांग लिंग** कहा जाता है और यह जांघ की अस्थि की बनी होती है। नारी की जंघास्थि को प्राथमिकता मिलती प्रतीत होती है तथा सोलह वर्षीय ब्राह्मण कन्या की बायीं जंघास्थि सर्वाधिक महत्व की होती है। मनुष्य की जंघास्थि के अतिरिक्त चीते की जंघास्थि का भी प्रयोग होता है और उसे **स्टाग लिंग** कहा जाता है। अगर मनुष्य की हो तो इसे बहुत ऊंची जाति के अथवा दुर्घटना में मृत किसी निम्न जाति के, अथवा संक्रामक रोग से मरे या हत्या किये व्यक्ति की होनी चाहिए।

लिंग को अनेक परंपराओं तथा क्रुद्ध देवताओं को शांत करने के पारंपरिक नृत्यों में बजाया जाता है। मौसमवेत्ताओं द्वारा "बरसात को रोकने की कोशिश में लगे दुष्टों को धमकाने में" इसका प्रयोग किया जाता है। तिब्बत में ऐसे **खांग लिंग** की पीतल की अनुकृति नागराज के सुंदर चित्र से सुसज्जित मिलती है।



22. रणसिंघा या नरसिंघा

मानव सभ्यता में ऐसी सुधी तुरहियां वास्तव में बहुत प्राचीन हैं और अधिकतर मानव गतिविधियों से बहुत हद तक अलग-थलग आदिवासी जन और समाज तक

में पायी जाती हैं। भारत से बाहर पाषाणकालीन उत्खनन एवं हमारे देश की प्रागैतिहासिक गुफाओं के चित्रों में वे देखने को मिली हैं। सुमेर और बेबीलोनियाई सभ्यता में वे थीं और असल में यह ध्यान देने योग्य है कि बेबीलोनियाई **करना** और मिस्र का **करण** उत्तर भारत की सीधी तुरही **करण** के कम से कम भाषाविज्ञान के अनुसार तो समान है ही। जैसाकि पहले बताया जा चुका है, हमारे देश के प्राचीन साहित्य में तुरही एवं तूर्य का प्रायः उल्लेख मिलता है, जो संभवतः नलिका के आकार के वाद्य रहे होंगे जिनका वर्णन हम कर रहे हैं। सीधी तुरही की विभिन्न किस्मों के नाम तुरही के अतिरिक्त मराठी में तुतरी और भोंगल, कन्नड़ में तुतरी, उड़िया में कहल, गंगा की घाटी तथा निकटवर्ती क्षेत्र के अनेक जिलों में करण, औरांव की भेंर और उत्तरप्रदेश की भेंर आदि हैं।

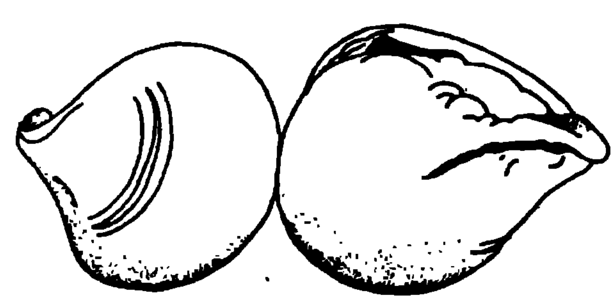
कहल शताब्दियों से ज्ञात एक महत्वपूर्ण तुरही थी और है। कर्नाटक तथा उड़ीसा में अधिक लोकप्रिय होने के साथ सर्वत्र सुनी जाती है। यह सोने, चांदी एवं तांबे की बनी लगभग आधा मीटर लंबी होती है। स्वाभाविक है कि किसी राजा-महाराजा के खजाने या मंदिर में रखी विलक्षण कृति न हो तो आज सोने की तुरही की कल्पना भी नहीं की जा सकती। देवी-देवताओं की शोभा यात्रा में कभी कभी चांदी की कहल अथवा करण दीख पड़ती है। अतः आम ग्रामवासी तांबे या पीतल की कहल का प्रयोग ही करते हैं।

तिब्बत, भूटान और लद्दाख की उत्तरी पहाड़ियों का **थुनचेन** एक रोचक उदाहरण है। अन्य वाद्य यंत्रों के अनुरूप ही यह भी विशिष्ट है और विशेष नृत्य एवं संगीत में प्रयुक्त होता है। चांदी से सुसज्जित और तांबे से बनी यह विशाल तुरही लगभग तीन मीटर लंबी होती है। इनकी एक जोड़ी इस्तेमाल की जाती है और वादक जिन्हें थुनचेन पा कहा जाता है, गम्बा अथवा मंदिर से उत्सव के प्रारंभ होने की घोषणा करते हैं और नृत्य की संगत भी करते हैं। थुनचेन की लंबाई और वजन उसे एकदम अचल बना देते हैं। उसका झालरदार सिरा भूमि पर रखा रहता है या खासतौर से बनाए गए स्टैंड पर रखा जाता है और वादक नली को फूंक से बजाते समय खड़ा या बैठा रहता है या इस यंत्र को किसी सहायक भिक्षु के कंधों पर रख कर ले जाया जाता है।

तिरूचिन्नम प्रायद्वीप में मिलने वाली सीधी तुरही की एक विशेष किस्म है। इस लंबे और पतले वाद्य की जोड़ी प्रायः बजायी जाती है और कुछ दशक पहले तक यह आम बात थी कि दोनों तुरहियों को वादक एक साथ बजाये। नेपाल में ऐसा होने का आभास है और इंडोनेशिया में 1,300 ई. की चांदी की ज्वारी की भित्तिचित्रों में ऐसी जोड़ीदार तुरही को दिखाया गया है।

शंख तुरही लगभग संपूर्ण विश्व तथा मैक्सिको, पेरू, चीन और भारत जैसी प्राचीन सभ्यताओं को मिलाने वाला सर्वाधिक प्राचीन सांकेतिक एवं संगीत-वाद्य है।

संगीत-वाद्य के रूप में शंख हमारे उपमहाद्वीप में कन्याकुमारी से हिमालय तक और गुजरात से मेघालय तक सर्वत्र पाया जाता है। सुषिर-वाद्यों में यद्यपि यह किसी काम का नहीं है लेकिन युद्ध में इसका प्रयोग उद्घोष करने वाले यंत्र के रूप में तथा आजकल पूजा, लोक संगीत एवं नृत्य में किया जाता है। पंच महासभा का सदस्य यह सदैव से है और अब पंचवाद्य में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। ऐतिहासिक रूप में इसके सबसे प्राचीन प्रमाण हड़प्पा सभ्यता में प्राप्त होते हैं, यद्यपि इस बात की पुष्टि नहीं हो सकी है कि अवशेषों में प्राप्त शंख संगीत-वाद्य के रूप में प्रयुक्त होते भी थे या नहीं ! बाकुरा की वैदिक चर्चा शंख तुरही की प्राचीनता की ओर इंगित करती है। सूत्र साहित्य में भी गोमुख की चर्चा है जो शंख या अन्य किसी प्रकार का बिगुल प्रतीत होता है। इस तथ्य को मानते हुए कि शंख मुख्य रूप से बाहर प्रयोग के उद्देश्य से उपुयक्त था। उस बात में कोई हैरानी नहीं है कि महाकाव्य और परवर्ती साहित्य में, जो राजा महाराजों के जीवन और संघर्ष की कथा से संबद्ध है, इसकी अनेक बार चर्चा हुयी है। युद्ध की घोषणा अथवा विजय की घोषणा और हर्ष के उत्सव मनाते समय शंखनाद किया गया क्योंकि इसको पवित्र वाद्य समझा जाता था।



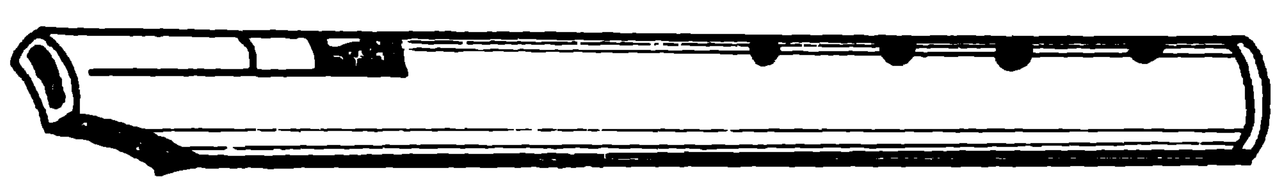
23. शंख

उदाहरण के लिए जब भरत राम से मिलने के लिए नंदिग्राम जाते हैं तो गायकों का साथ दुंदुभि और शंख देते हैं। श्रीमद्भागवत महापुराण में श्रीकृष्ण के द्वारिका आगमन का सुंदर वर्णन इस प्रकार है, "द्वारिका की शस्य श्यामला भूमि पर पहुंच कर अपने आगमन का समाचार वहां के वासियों को देने के लिए उन्होंने शंखनाद किया। उनके अरुण अधरों के सम्मुख गुलाबी करों में श्वेत शंख ऐसे शोभायमान हो रहा है जैसे अरुण कमलों के मध्य हंस विचरण कर रहा हो।" एक शंख को तुरही बनाने का सबसे सरल तरीका यह है कि उसके बंद सिरे को काट दिया जाए ताकि अंदर के घुमावदार भाग दिखने लगें, कभी कभी बंद सिरे के पार्श्व में एक छेद कर दिया जाता है, दोनों ही तरह में वादक सीधे शंख के अंदर फूंक मारता है। माउथपीस या नल प्रायः लगा दिये जाते हैं जो पीतल की बनी छोटी-सी नली या प्लेट होती है। इनकी लंबाई छोटी, बड़ी हो सकती है। बारहट के पहले दिये उदाहरण में शंख में एक लंबी नली लगा दी जाती है, जो लगभग तुरही के झालरदार मुख जैसी बन जाती एवं दिखाई देती है। (23)

"पहली बांसुरी के आविष्कारक न्यू गिनी के दंपत्ति की जिस घटना का उदाहरण दिया गया है उससे वह प्रत्येक बालक परिचित है जो बोतल को मुंह से लगाकर फूंकने का खेल खेलता है। एक छोर से फूंक कर बजायी जाने वाली बांसुरी इस सिद्धांत

पर आधारित सुषिर-वाद्य है जिसकी अनेक लोक और आदिवासी किस्में हैं। इनमें से एक उत्तर-पूर्वी भारत की फिफली है। यह लगभग 15 सेंटीमीटर लंबी और बांस की बनी होती है, जिसका एक सिरा खुला और दूसरा बंद होता है। खुला सिरा निचले अधर पर धरा जाता है और इसको खड़ा पकड़ा जाता है तथा इस द्वार से फूंक मारी जाती है। स्पष्ट है कि इस यंत्र से बहुत ही सरल धुनें बजायी जा सकती हैं। इससे थोड़ी जटिल फिफली में नल या बांस की अलग अलग नाप की कई नलियों को आपस में बांधा जाता है और वह काफी कुछ एक छोटे बेड़े जैसी लगने लगती है। भिन्न भिन्न लंबाई की नलियां होने के कारण उनके स्वर भी अलग अलग विस्तार के होते हैं। छोटी बांसुरी की ध्वनि अधिक तीखी होती है। हमारे देश में पायी जाने वाली फिफली यूरोप की पेनपाइप होती है। मैदानी इलाकों में पायी जाने वाली एक छोर से बजायी जाने वाली बांसुरी की सबसे आम किस्म राजस्थान की नढ़ है। यह बांस का बना एक लंबा वाद्य है और लगभग फिफली की तरह बजाया जाता है। नली में प्रायः चार रंध्र होते हैं और आसान धुन बजाने में इनका प्रयोग किया जाता है।

बांसुरी का एक और वर्ग है जिसको बजाया तो एक ही सिरे से जाता है लेकिन तरीका बिल्कुल अलग होता है। फूंक मारने वाला सिरा पहली किस्मों की तरह ही होता तो चपटा है, लेकिन संकरे मुंह के रूप में दबा रहता है, जिसे तकनीकी तौर पर 'चोंच' कहा जाता है। अतः ऐसे दबे हुए सिरों वाली बांसुरी को 'चंचु बांसुरी' कहा जाता है। इस चोंच के पास ही बांसुरी की नली में एक और छेद होता है, जब संगीतकार चोंच से हवा फूंकता है तो इस छेद की पत्ती के किनारों से हवा के टकराने से ध्वनि पैदा होती है। वादक अपनी ऊंगलियों से रंध्रों को खोलते बंद करते सुरीली ध्वनि निकालता है। इस किस्म की वंशी को उत्तर भारत में बांसुरी कहा जाता है। लेकिन पंजाब, राजस्थान तथा महाराष्ट्र और अन्य इलाकों में एक और वाद्य होता है—अलगोज़ा। दरअसल यह एक साथ बजायी जाने वाली दो चंचु बांसुरी की जोड़ी

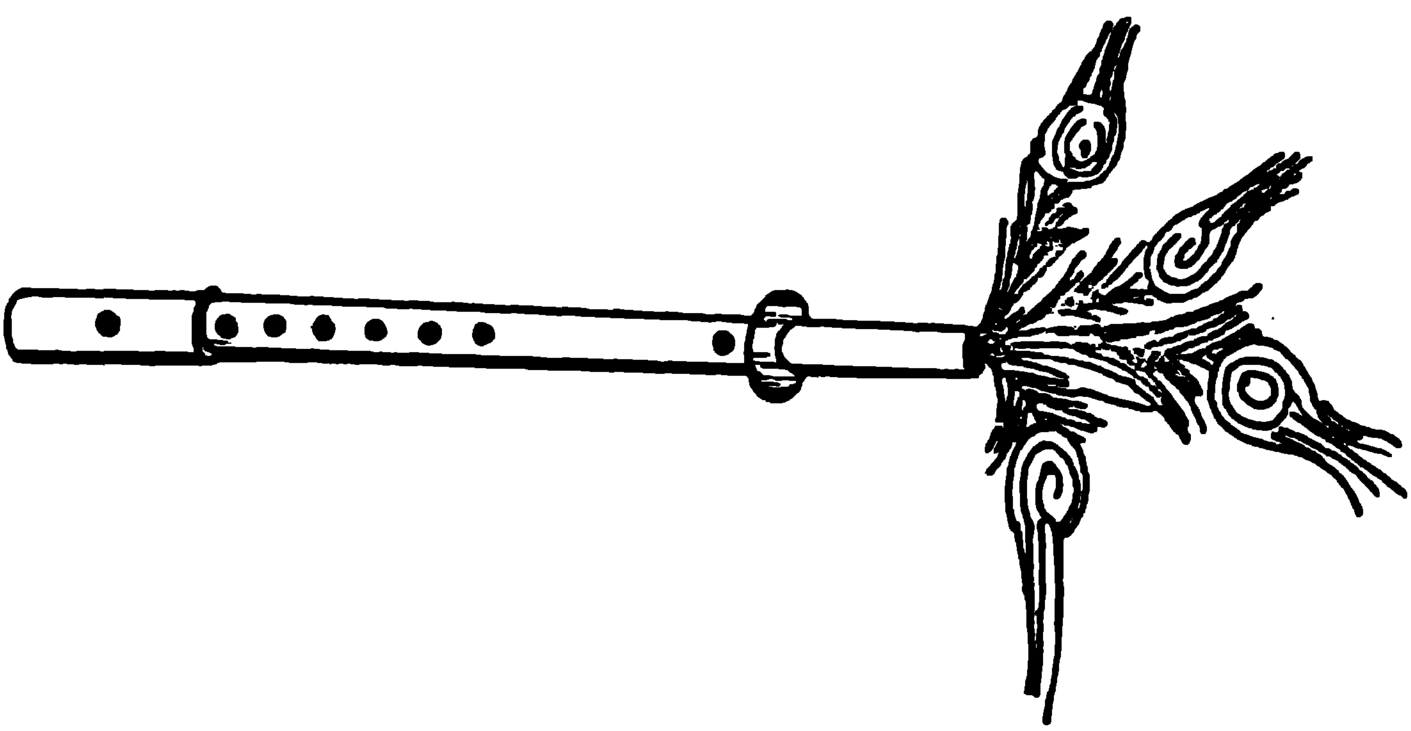


24. बांसुरी

होती है। दो बांसुरी एक साथ मुंह में रखी जाती हैं और एक ही साथ फूंक भी मारी जाती है। दोनों बांसुरियों को बजाने के लिए रंध्र होते हैं लेकिन एक यंत्र का प्रयोग धुन के लिए और दूसरे का सुर के लिए किया जाता है। (24)

आड़ी बांसुरी संपूर्ण देश में सर्वाधिक लोकप्रिय और सुपरिचित है। यह अपने

वर्ग का ऐसा अकेला वाद्य भी है जिसे आदिवासी, लोक और शास्त्रीय संगीत तक प्रचलित होने का गौरव प्राप्त है, जबकि एक ओर से बजायी जाने वाली तथा चंचु बांसुरियों को शास्त्रीय संगीत के घरानों में स्वीकृति नहीं मिली है। इसका कारण आड़ी बांसुरी का वैविध्यपूर्ण होना प्रतीत होता है। भारतीय संगीत अपनी आवृतियों के सूक्ष्म अंतर की उत्कृष्टता तथा अदाकारी में बहुत समृद्ध है, पहले को श्रुति और दूसरे को गमक कहा जाता है। यह ऊंगलियों के चपल संचालन, फूंक के हवा के दबाव तथा बांसुरी के अधर पर रखने के कोण में अंतर लाकर किया जाता है। यह सब केवल आड़ी वंशी में ही संभव है। नण, फिफली और अलगोज़ा में ऐसी बारीक पकड़ शायद ही संभव हो। अब जिस आड़ी वंशी का वर्णन किया जा रहा है वह एक सिरे पर खुली और दूसरी ओर बंद होती है। बंद सिरे से कुछ ही सेंटीमीटर नीचे एक छेद फूंक मारने के लिए होता है जिसको मुहाना अथवा फूंक मारने का रंध्र कहा जाता है। वाद्य यंत्र में थोड़ी थोड़ी दूर पर अनेक रंध्र होते हैं जिनके ऊपर



25. वेणु

ऊंगली के संचालन से धुन बजायी जाती है। ध्यान देने योग्य एक खास बात यह है कि हमारे देश में बांसुरी रंध्रों को खोलने बंद करने के लिए कोई वाल्व या चाबियां नहीं लगायी जातीं क्योंकि ऐसी चीजें संगीत के रागों के सौंदर्य को नष्ट करती हैं और इसी कारण हमारे वादक इन तरीकों की उपेक्षा करते हैं। हमारे कलाकार और श्रोता धातु के मुकाबले माधुर्य गुण अधिक होने के कारण बांस की बांसुरी ही अधिक पसंद करते हैं। वेणु की लंबाई आवश्यकता पर निर्भर करती है और उसके अनुसार बदलती रहती है। छोटी वेणु तेज गति और ऊंची आवाज के लिए तथा बड़ी धीमी गति और नीची आवाज के लिए होती है। वेणु शब्द का प्रयोग यहां यह दिखाने

के लिए किया जा रहा है कि इसको तथा अन्य वाद्य यंत्रों को नाम कैसे दिये गए। यहां वेणु का अर्थ बांस से है तथा बांस एवं वेणु का संबंध पक्का है ही। ऐसी ही शब्दव्युत्पत्ति वंश अर्थात् बांस से निकले अन्य शब्दों की भी है जैसे वंशी, बंसी, बांसुरी, यह चाहे धातु का ही क्यों न बना हो इस वाद्य का नाम यही रहता है जैसे कि शृंग का। द्रविड़ भाषाओं में इन वाद्यों के नाम कोलल (अर्थात् नलिका) शब्द से उत्पन्न हुए हैं यथा : **कुझल** (तमिल), **पुल्लन कुझल** (तमिल), **कोलवी** (कन्नड़) **पिल्लनाग्रोवी** (तेलुगु) आदि। वेणु सबसे प्राचीन नाम प्रतीत होता है क्योंकि यह वैदिक साहित्य में भी मिलता है, जहां तूणव और नादि का भी उल्लेख है। यह भी बांसुरी की ही किस्में हैं। प्राचीन चित्रों और मूर्तियों में जैसाकि स्पष्ट है, इस वाद्य को अंकित किया गया है। (25)

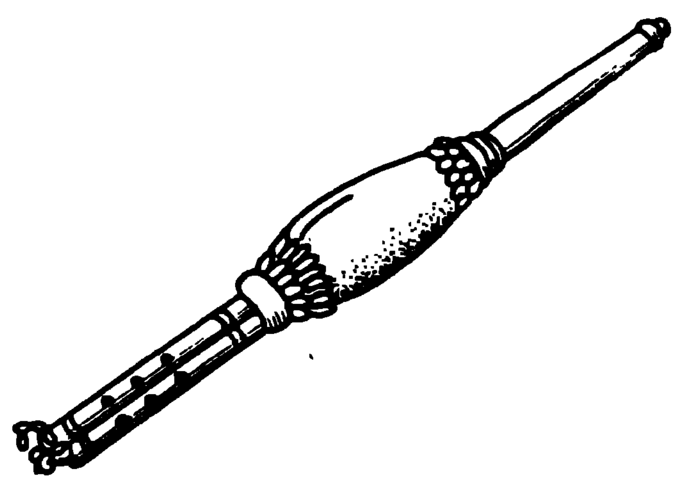
अब तक वर्णित बांसुरी और तुरही में आवाज उत्पन्न करने या उसी आवृति पर नियंत्रण करने के लिए कोई यांत्रिक भाग नहीं लगाए गए हैं। तुरही, सींग और शंख में फूंक के नियंत्रण का कार्य अधरों से किया जाता है और बांसुरी में फूंक वाले रंध्र में लगी पत्ती के किनारे इस कार्य को करते हैं। अब हम उन सुषिर-वाद्यों का वर्णन करेंगे जिनमें एक या अनेक प्रकार के यांत्रिक कंपक (वाइब्रेटर) लगे होते हैं।

किसी नलिका अथवा वायुकोष में लगी यह कंपक नल कही जाती है। किसी समय यह वास्तव में नरकट की नलियां ही हुआ करती थीं। हमारे यहां इन्हें पत्ती (हिंदी में), सीवली (तमिल में) और आकु (तेलुगु में) कहा जाता है, जिनके नाम से ही उनकी उत्पति का ज्ञान होता है–पत्ती या नरकट की नलियां बांस अथवा बैंत की नलिका का हिस्सा ही होती हैं। आधुनिक यंत्रों में यह धातु की भी हो सकती है लेकिन इसका नाम फिर भी यही रहता है।

पत्तियां मोटे तौर पर दो प्रकार की होती हैं : जुड़ी हुई और स्वतंत्र। पहली तरह की एक छोटी कंपक पत्ती होती है जो एक रंध्र को बंद किये रखती है तथा इस प्रकार छेद के किनारों पर बजती है। दूसरे प्रकार में पत्तियों की एक जोड़ी होती है, जिनके बीच में हवा के गुजरने का रास्ता होता है और वे आपस में कंपन करती बजती हैं। पहले प्रकार की पत्तियां पुंगी और क्लारनेट में लगी होती हैं। दूसरे प्रकार की वे हैं, जो नागस्वरम् तथा शहनाई जैसे वाद्यों में लगी होती हैं। स्वतंत्र पत्तियों का चलन भारत में बहुत कम है और हारमोनियम तथा पूर्वी भारत के आदिवासी क्षेत्र के दुर्लभ वाद्य **खुंग** अथवा **रूसेम** में देखने को मिलती हैं। ये पत्तियां एक रंध्र के अंदर हिलती डुलती हैं और रंध्र के किनारों को नहीं छूतीं। अतएव उनका यह नाम है। स्वतंत्र और जुड़ी हुई पत्तियों में एक और बहुत खास अंतर है। उदाहरणार्थ पुंगी और नागस्वरम् में पत्तियां जो आवाज निकालती हैं, वह हम संगीत के रूप में नहीं सुनते। ये हवा की धारा को नियंत्रित करने वाले कपाट का

कार्य मात्र करती हैं। इनकी ध्वनि एवं आकृति पूरी तौर पर नलिका की लंबाई पर निर्भर करती है जो रंध्रों पर ऊंगलियों के संचालन द्वारा घटायी-बढ़ायी जाती है। दूसरी ओर, हारमोनियम में पत्तियां ही आवाज उत्पन्न करती हैं और कंपन उत्पन्न करने में हवा निमित्त मात्र होती है इसलिए एक सुर के लिए एक पर्त का होना आवश्यक है।

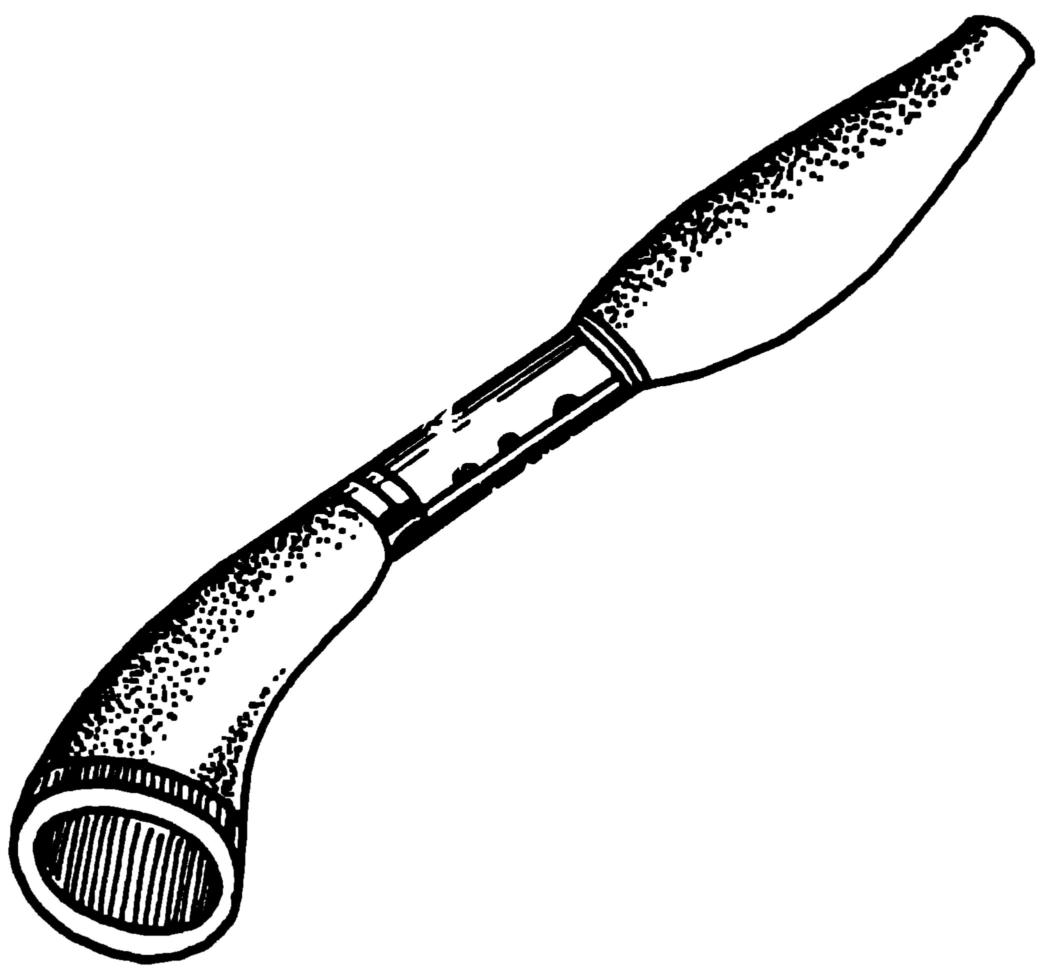
जुड़ी हुई पत्ती वाला सबसे अधिक ज्ञात और सर्वव्यापी वाद्य है पुंगी (अथवा बीन) जिसे महुदी और नागस्वरम् भी कहा जाता है, जो सपेरे का वाद्य है और पर्यटकों के लिए बहुत ही आकर्षण का केंद्र है क्योंकि बहुत से विदेशियों के लिए भारत अब भी सांपों से कष्ट पाने वाला देश है। संरचना और वादन में यह वाद्य अत्यंत सादा है। इसका ऊपरी भाग एक सूखी हुई तुंबी का बना होता है, जिसमें वादक हवा फूंकता है और हवा नीचे वाले कोष में एकत्रित होती है। यह हवा तुंबी में लगायी गयी दो बांस अथवा धातु की नलिकाओं से दाब के साथ निकलती है। प्रत्येक नलिका का ऊपरी भाग जो तुंबी में प्रविष्ट रहने से दिखायी नहीं देता बांस की छाल से ढका रहता है। यही कपाट अथवा रीड है जोकि रंध्र से बड़ी होती है। यह रंध्र की दीवारों पर कंपन कर बजती है और निकलने वाली हवा को नियंत्रित करती है, जो वादन हेतु रंध्र युक्त नलिकाओं से निकलती है। इन नलिकाओं में से एक धुन बजाने के काम आती है और दूसरी केवल सुर निकालने के। सपेरे का संगीत सम्मोहक हो सकता है और मनुष्य के लिए नशीला भी किंतु यह ज्ञात नहीं है कि सांपों पर इसका कितना असर होता होगा क्योंकि यह सच है कि सांप बहरे होते हैं। (26)



26. पुंगी या महुदी

पुंगी की ही निकट संबंधी है तारपो जिसे आकार के अनुसार घोंघा, खोंगाडा और डोबरू कहा जाता है। संरचना का सिद्धांत बिल्कुल पुंगी की ही तरह है। इसमें भी बजने वाली एक ही पत्ती होती है जो कपाट का काम भी करती है। काम करने में इसके अन्य भाग भी तुलना करने योग्य होते हैं। पुंगी की तरह छोटी लौकी की जगह बड़ी किस्म होती है जिसे मराठी में दूधिया भोपला कहते हैं। इसमें ऊपर की ओर एक छिद्र के स्थान पर किनारे की ओर एक छेद होता है और खुले मुंह में एक माउथपीस भी लगा होता है। इससे फूंकी गयी हवा खोखली लौकी में भर जाती है, वह दाब बढ़ाती है और तब बांस की दो नलियों से प्रवाहित होती है। पुंगी की तरह

इसमें भी थरथराने वाले पर्दे लगे होते हैं, जो दिखायी नहीं देते। इसमें बाहर भी छिद्र होते हैं जो संगीत बजाने के काम आते हैं। एक और अतिरिक्त भाग है जो महुदी में नहीं होता, यह ध्वनि को दिशा एवं विस्तार देने के लिए टीप होती है। यह टीप अथवा चोंगा ताड़ की पत्तियों का बना होता है, जिसकी पत्तियों को चीरकर आपस में गोल गोल सर्पीले आकार में बुन दिया जाता है। तारपो गुजरात के ग्रामीण अंचलों और महाराष्ट्र के वरली लोगों में प्रचलित एक खास प्रकार का फूंक वाला वाद्य है, "भाद्रपद (सितंबर) माह के दूसरे पखवाड़े में जन धान की फसल

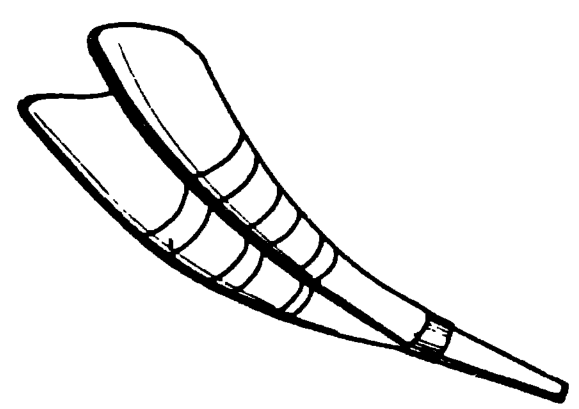


27. तारपो

काटने को तैयार होती है, वरली ग्रामीण एकत्रित होते हैं और तारपो का स्वर कई कई रात तक काफी दूर से ही सुना जा सकता है। आश्विन (अक्तूबर) माह के आरंभ से हर रोज सूरज ढलते ही तारपो नृत्य किया जाता है। वादक गोला बनाकर बीच में खड़े हो जाते हैं और नर्तक उनके इर्दगिर्द गोल गोल घूमते हैं। तारपो-वादक मुड़ते हैं तो वे भी मुड़ जाते हैं, वे कभी भी तारपो-वादक की ओर पीठ नहीं करते हैं। विशेष अवसरों पर वरली भारी संख्या में महालक्ष्मी मंदिर पर इकट्ठे हो जाते हैं, जहां धार्मिक प्रवचन होता है और उत्सव के अंग के रूप में उनका मुकाबला भी होता है।" (27)

मशक या टिट्टी भारत की मशक बीन है। यद्यपि देशी किस्म की जगह आयातित वाद्यों ने ले ली है। यहां फिर कार्य पद्धति में संबंध ध्यान देने योग्य है। हवा भरने के लिए इसमें सूखा फल नहीं बल्कि बकरी की पूरी खाल का थैला, पैर वगैरह प्रयुक्त होते हैं। यह थैला, जिसे मशक भी कहते है, दो प्रकार के बिल्कुल ही बिना संगीत के कामों में भी इस्तेमाल होता है। यह पानी के बर्तन की तरह इस्तेमाल होता है, केवल पानी को भरने के ही लिए नहीं बल्कि मजदूरों को इसमें पानी भर कर सड़क पर छिड़काव करते हुए देखना एक आम दृश्य है। मशक को जब ठीक बंद करके और हवा भर के पानी में तैराया जाए तो यह नदी पार करने का एक अच्छा साधन बन जाती है। यही मशक सुषिर-वाद्य का भी एक हिस्सा है। (संयोग से तेलुगु में टिट्टी का अर्थ भी थैला ही होता है।) वाद्य का यह वायु भरा थैला बांस की छोटी-सी डंडी से जुड़ा रहता है, जिससे फूंक कर मशक में हवा भरी जाती है। हवा के इस थैले में दूसरे सिरे पर बांस की दो नलियां लगी होती हैं, जिनमें से हरेक में पत्तियां होती हैं और बजाने के लिए छेद भी होते हैं। वादक पहले मशक में फूंक कर हवा भरते हैं। हवा भरी बकरी की खाल बांह के नीचे रहती है, जिस पर हल्का दबाव देकर हवा बाहर निकाली जाती है और बाहर निकल कर यह पत्तियों को कंपा देती है।

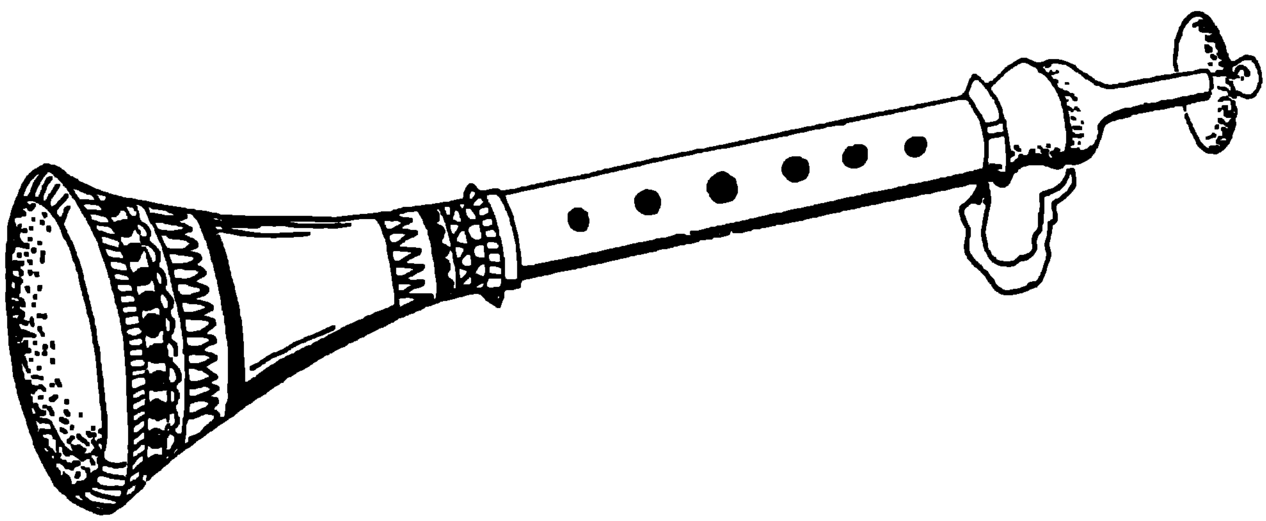
एक अन्य एक पत्ती या रीड वाला वाद्य है, जिसकी चर्चा आवश्यक है, यद्यपि यह हमारे देश के सभी भागों में नहीं पाया जाता। यह आसाम का पेपा है, जो वसंत नृत्य अथवा बिहू में बजाया जाता है। इसमें लगभग 20 सेंटीमीटर लंबी दो नलियां होती हैं, जो रंध्रों के पास आपस में जुड़ी होती हैं। एक सिरे पर एक पत्ती अथवा रीड होती है, जो या तो बांस की नली से ढकी होती है अथवा खुली रहती है। यह सिरा मुंह में रखा जाता है और आवाज पैदा करने के लिए इसमें फूंक मारी जाती है। प्रत्येक नली के दूसरे सिरे पर भैंस का सींग अथवा धातु का चोंगा भोंपू की तरह काम में लाने के लिए लगा होता है। (28)



28. पेपा

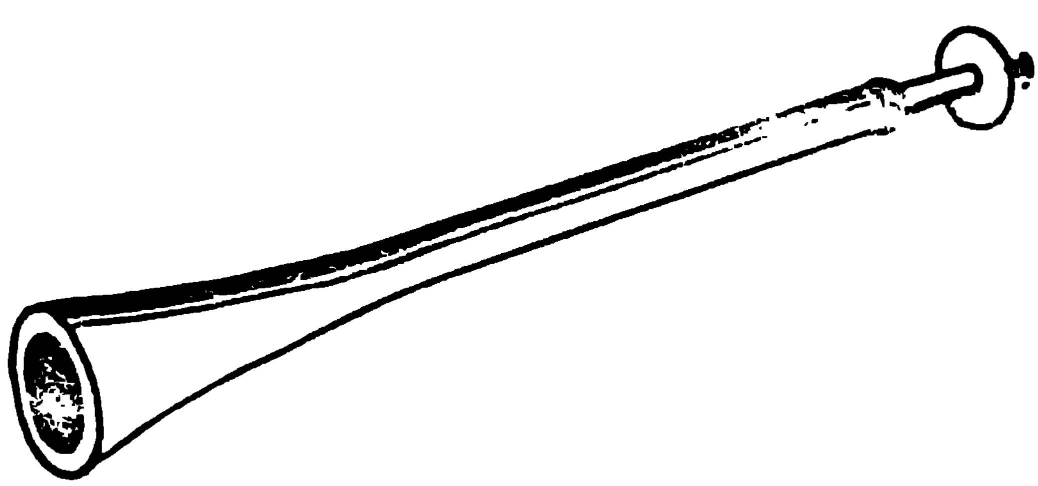
यह बड़े आश्चर्य की बात है कि यद्यपि अनेक प्रकार के एक पत्ती अथवा रीड के वाद्य हमारे देश में मिलते हैं, तो भी हम ऐसा कोई पाइप नहीं बना सके जो सभाओं में प्रयोग के योग्य हो। इसका महत्व हम तब जान पायेंगे जब हम यह याद रखेंगे कि एक रीड वाले वाद्य जैसे क्लारनेट का हम आयात करते हैं, जो हमारे संगीत के उपयुक्त नहीं है। जबकि हमने दो रीड के अत्यंत शहनाई और नागस्वरम् जैसे वाद्य बनाए हैं जो अंतर्राष्ट्रीय मंचों से सुने और सराहे गए हैं।

दो रीड वाले वाद्य इस महाद्वीप में अनेक प्रकार से समस्यामूलक रहे हैं। मुख्य समस्या भारत में उनके प्रवेश खोजने की है, अगर वे भारत से बाहर से आए भी हैं तो, हमारे यहां इतनी प्रकार की देशी शहनाई और उनके इतने स्थानीय नाम हैं



29. मुवारी

कि इनके 'विदेशी' होने की बात पर विश्वास करना कठिन है। दूसरी ओर वे किस्में और नाम जो देशी नहीं हैं वे भी अनेक हैं, लेकिन इससे भी उनके विदेशी होने की संभावना प्रतीत नहीं होती। उनके खास स्थानीय नाम हैं, मुवारी, मोहोरी, मधुकरी जो शायद भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से 'मोरी' से संबंधित है, जिसका अर्थ नली अथवा नाली है। मुख वीणा के नाम से ही यह प्रतीत होता है कि यह मुख से बजायी जाने वाली वीणा है। नामों के दूसरे समूह में हैं, नागस्वरम्, नागसर आदि। अब तक बताए गए नाम पूरी तरह भारतीय हैं जबकि शहनाई, सुंदरी, नफीरी जैसे नाम जो हमारे देश में दो रीड के सुषिर-वाद्यों के हैं वे इस देश की सीमाओं से बाहर से आए हैं। मुवारी का सर्वप्रथम उल्लेख ग्यारह शताब्दी पहले मिलता है। मुख वीणा का उल्लेख



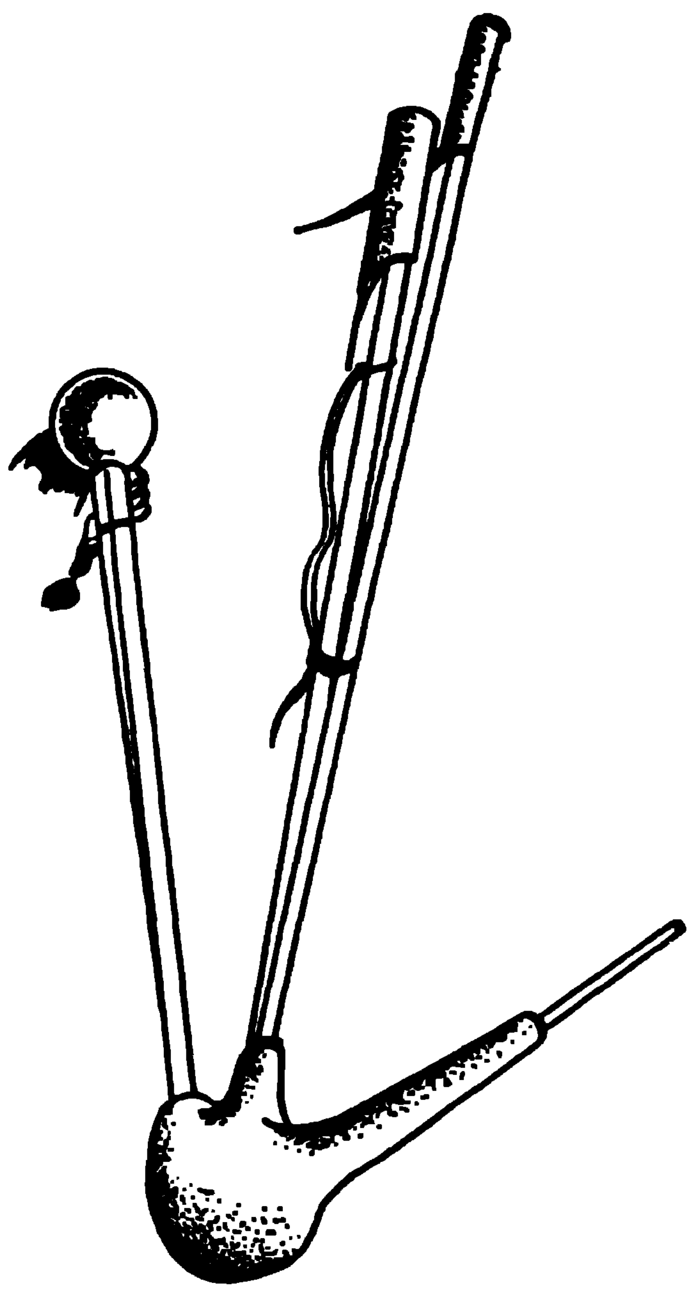
30. शहनाई

दक्षिण भारतीय साहित्य में 12वीं शताब्दी के बाद से मिलना प्रारंभ होता है और नागस्वरम् का उल्लेख कम से कम 14वीं शताब्दी से मिलता है। हमारी साहित्यिक कृतियों में शहनाई का उल्लेख 13वीं शताब्दी से मिलता है और मध्य एवं पूर्ण एशिया के जुरना से इसका संबंध प्रतीत होता है। कुछ नाम हैं जो विशेषण परिवर्तन पर प्रकाश डाल सकते हैं, मेलम तथा ओलगा ऐसे ही दो शब्द हैं। इन दोनों का अर्थ समूह एवं दरबार (राजा-महाराजों का) है। चूंकि ऐसे स्थानों पर बजाए जाने वाला महत्वपूर्ण वाद्य है नागस्वरम्, तो इसे ही मेलम एवं ओलगा (तमिल, कन्नड़ और तेलुगु में) कहा जाने लगा। विशाल नागस्वरम् को प्रायः बड़ी नागस्वरम् कहा जाता है और तमिलनाडु के नयनन्दी मेलम तथा कर्नाटक के कर्गा मेला जैसे लोक मेलों में यह एक खास वाद्य है। कर्नाटक शास्त्रीय संगीत में अब यह अकेली शहनाई है। ऊपर वर्णित सभी वाद्यों की रचना समान है, विशेष प्रकार की पत्तियों और दलदली घास के बने और डैने की आकार की लगभग एक सेंटीमीटर लंबी दो रीड अथवा पत्तियां होती हैं। रीड के संकरे सिरे एक छोटी नलिका में लगे रहते हैं जिसे कुंडी कहते हैं। यह स्वयं लकड़ी की एक लंबी नली में उलट कर लगा दी जाती है जिसका शंकु जैसा मुख एक चोंगे जैसा होता है। भारतीय पुस्तकों में इसका आकार धतूरे के फूल जैसा बताया गया है। वाद्य के इसी हिस्से में बजाने के लिए चार से सात तक रंध्र होते हैं जिनसे ध्वनि उत्पन्न होती है। लकड़ी की शहनाई आम होती है सोने-चांदी की शहनाई भी सुनी गयी है, और पत्थर की दुर्लभ शहनाई भी पायी गयी है। अभी कुछ समय पहले तक शहनाई विवाह और जुलूसों जैसे शुभ और हर्ष के अवसरों पर बजाया जाने वाला बाहरी वाद्य समझा जाता था। पिछले कुछ दशकों के दौरान इसने संगीत सभाओं तथा आकाशवाणी पर चमत्कारिक सफलता प्राप्त की है। (29,30)

अंत में, मुक्त रीड वाले वाद्यों का अध्ययन शेष रहता है और यह हमें घुमा फिरा कर हारमोनियम पर लाता है। जैसाकि पहले बताया गया है इसमें रीड एक सिरे से जुड़ी हुई एक जीभ होती है जो फ्रेम के किनारों को छुए बिना एक छिद्र के अंदर हिलती रहती है। पर्दों की कंपन से उसमें हवा भरी जाती है और जो आवाज हम सुनते हैं वह हवा की न होकर रीड की होती है।

हमारे देश में पूर्वी भाग में खंग अथवा रूसैम नाम का एक वाद्य है। बाहरी तौर से इसे देखने पर पुंगी के सिद्धांत पर बजने वाला वाद्य समझने की भूल हो सकती है, लेकिन ऐसा है नहीं। सपेरे की बीन की तरह इसमें एक छोटी सूखी लौकी होती है, जिसमें एक छोटी नली से होकर वादक फूंक भरता है, लेकिन महुदी से इसकी समानता यहीं समाप्त हो जाती है क्योंकि ध्वनि उत्पन्न करने वाले भाग एकदम भिन्न होते हैं। खंग में इस तुंबे में आधा दर्जन ध्वनि नलिकाएं घुसी रहती हैं और यह तीन तीन के समूहों में लगी होती हैं। प्रत्येक नली के अंतिम सिरे पर एक मुक्त रीड लगी

होती है। यहां एक छोटा कटाव होता है, एक छोटी-सी पत्ती छोड़ दी जाती है, जो इसमें थरथराती रहती है। नलिकाओं के बाहरी सिरों पर बांस की अथवा फलों की छोटी टोपियां पहना दी जाती हैं, जो आवाज को मंद करती हैं। ध्वनि उत्पन्न करने की असाधारण प्रक्रिया इस प्रकार है, प्रत्येक रीड. पाइप के किनारे एक छोटा-सा छेद होता है। जब एक विशेष सुर निकालना होता है तो बजाने वाली नलिका का रंध्र बंद कर दिया जाता है। परंपरागत नलिकाओं की तरह इन्हें खोला नहीं जाता। इस प्रकार फूंकने पर उस नलिका में दाब उत्पन्न होने से रीड कंपकंपाने लगती है। चूंकि अन्य सभी नलिकाओं के रंध्र खुले रहते हैं इसलिए उनकी रीड कार्य नहीं करती हैं। इस तरह इससे सरल लेकिन बहुत ही मधुर धुनें बजायी जाती हैं। रूसेम मणिपुर में पायी जाती है,



31. खंग या रूसेम

इसके निकटवर्ती क्षेत्रों में रचनात्मक समानताएं हैं। इसी प्रकार के वाद्य लाओस तथा बर्मा में भी मिलते हैं। इससे अधिक विकसित वाद्य चीन का **शेंग**, जापान का **शो** तथा कोरिया का **शीघवांग** है। इन सभी सुषिर-वाद्यों में और भारतीय रूसेम में समानता पूर्व एशिया तथा मंगोलों के सांस्कृतिक और संरचनात्मक संबंधों की ओर इंगित करती है। यह बात और भी महत्वपूर्ण हो जाती है जब हम यह याद करें कि हारमोनियम भी इस प्रकार के एक स्वतंत्र रीड वाले वाद्यों से ही विकसित हुआ होगा। (31)

हारमोनियम का सिद्धांत प्रायः मुख से बजाए जाने वाले ऊपर वर्णित सुषिर-वाद्यों में खोजा जाता है। चीनी शेंग ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व से ज्ञात था। चित्रों में इसका वर्णन ईसा के बाद की छठी शताब्दी से उपलब्ध होता है। एशिया का माउथ

आर्गन रूस देश पहुंचा जहां से मुक्त रीड वाले वाद्य 19वीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में पहुंचे। महाद्वीप में वाद्य निर्माताओं ने अनेक प्रकार के माउथ आर्गन, रीड आर्गन, एकार्डियन जैसे वाद्य मुक्त रीड का प्रयोग करके बनाने प्रारंभ किये। पाश्चात्य व्यापारियों, घुसपैठियों तथा फिरंगियों के साथ रीड आर्गन भारत पहुंचे और यहीं उन्होंने भारतीय हारमोनियम का रूप लिया। इस प्रकार भारतीय रूसेम से भारतीय हारमोनियम तक एक पूरी राह तय की गयी।

हारमोनियम में काम करने वाले चार भाग होते हैं : पर्दे, वायु प्रकोष्ट, चाबियां तथा रीड। पहले में चमड़े के मुड़े हुए थैले होते हैं, जिनको उससे जुड़े लकड़ी के एक फलक की मदद से दबाया और छोड़ा जा सकता है अथवा पैर के हारमोनियम में पैरों द्वारा दो पैडलों से यही कार्य किया जा सकता है। वायुमंडल की हवा को अंदर ले जाने के लिए पर्दों में छेद होते हैं और बाहर निकलने से रोकने के लिए उसमें चमड़े के कपाट होते हैं। जब वादक उन्हें खोलता है तो हवा अंदर जाती है और जब दबाता है तो हवा को बाहर निकलने से रोककर वायु प्रकोष्ठ में धकेलता है। यह एक चौकोर पेटी होती है जो वाद्य का अधिकांश हिस्सा है और स्वरपेटी की तरह काम करता है। इसके अंदर भी चमड़े के बने पर्दे होते हैं जो वायु प्रकोष्ठ तथा पर्दों के बीच सक्रिय रहते हैं ताकि हवा अंदर जा तो सके लेकिन बाहर न निकल सके। पर्दों की निरंतर गति से अंदर वायुदाब बढ़ता है और केवल चाबियों को दबाने से ही निकल पाता है (चाबियां वाद्य पर लगी काली और सफेद पत्तियों के रूप में दिखायी देती हैं) जब कोई चाबी दबाई जाती है, तब यह जुड़ी हुई पत्ती के नीचे एक छोटा छेद खोल देती है और हवा वांछित सुर उत्पन्न करती हुई उससे गुजर जाती है। इसमें इस प्रकार प्रत्येक रीड के लिए एक चाबी होती है और केवल इच्छित सुर ही उससे संबंधित चाबी को दबाने से प्राप्त होता है। काली और सफेद चाबियों की पंक्ति 'की बोर्ड' कहलाती है। इस प्रकार हारमोनियम को भी पियानो तथा हारपिसकोर्ड जैसे की बोर्ड वाले वाद्यों के वर्ग में रखा जाता है।

यह वाद्य संगीतकारों और संगीतज्ञों के मध्य बहस और विवाद का मुद्दा अधिकृत और अनाधिकृत दोनों ही क्षेत्रों में बना हुआ है। यहां हमें कोई निर्णय देने की आवश्यकता नहीं है लेकिन बहस के पक्ष और विपक्ष दोनों ही की छानबीन करने की आवश्यकता अवश्य है। पहले हम हारमोनियम के पक्षधरों के तर्कों को लें, यह एक ऐसा वाद्य है जिसको संभालना सरल है तथा इसकी वादन प्रक्रिया भी सारंगी, सितार, वीणा एवं वायलिन जैसी जटिल नहीं है। इसको मिलाने के लिए कोई कठिनाई नहीं उठानी पड़ती बल्कि जैसा है, वैसा ही बजा दिया जाता है। इन बातों ने हारमोनियम को बहुत लोकप्रिय बना दिया, विशेषकर इसकी ऊंची आवाज ने। अनेक महान कलाकारों ने इसकी संगत की अनुमति दी। हिंदुस्तानी संगीत में विशेषतया

ऐसा होता है जहां निश्चित सुरों की आवृति अधिक होती है। कर्नाटक संगीतकारों ने इसे सीमाओं से लगभग बाहर ही रखा है। इसे अस्वीकारने वालों का तर्क है कि इसकी स्वयंसिद्ध सुविधा और लोकमान्यता के बाद भी इसमें भारतीय संगीत में अत्यंत आवश्यक रागों के अनुरूप ध्वनि उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है। भारतीय संगीत का सौंदर्य और विशेषता स्वर तथा आवृतियों, गमक और सजावट में है, जिसकी कोई संभावना इस वाद्य में नहीं है। अब राग संगीत ध्वनि के बारीक वैविध्य को स्पष्ट करने से केवल उसका माधुर्य ही नहीं बढ़ता बल्कि वह रागों की आवश्यकता भी है। हारमोनियम इस तरह के धार से पैने अंतरों को स्पष्ट करने के लिए नहीं बना है। इसके विपरीत इसका 'की बोर्ड' प्रजातांत्रिक प्रक्रिया की आवश्यकता पर बल देता है, जिसे तकनीकी रूप से मिजाज की एकरूपता कहा जाता है। वह यह है कि संगीत का सप्तक बारह 'बराबर' चरणों में बांट दिया जाता है (सात सफेद और पांच काली चाबियां) जबकि भारतीय संगीत में सुरों की बारीकियां समझाने के लिए अनगिनत चाबियों की आवश्यकता है।

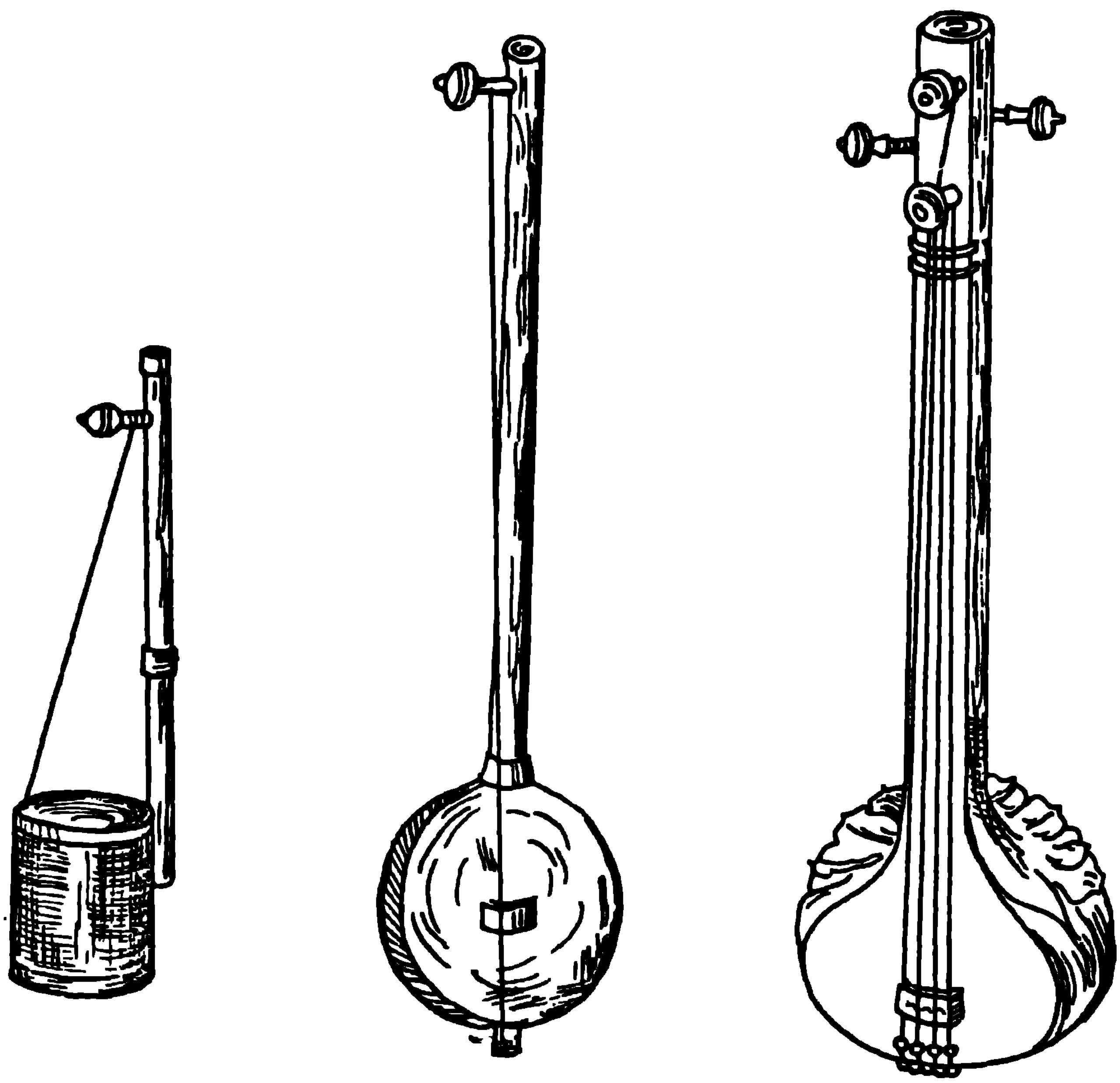
दूसरे शब्दों में, हारमोनियम में सुरों की अपनी अलग पहचान खो जाती है और वे भीड़ में एकरूप हो जाते हैं। इसमें एक सुर के लिए एक रीड की व्यवस्था है इसलिए केवल खंडित एवं स्थूल धुनें ही संभव हैं। एक सुर से दूसरे सुर की ओर बढ़ना, नाजुक झंकार और उनकी असंख्य किस्मों, जिन सबको मिला कर गमक कहते हैं, हारमोनियम पर संभव नहीं और उनके बिना राग बिना फूल पत्तियों का एक ठूंठ मात्र है। इस वाद्य पर सभी राग सरलतापूर्वक बजाए जा सकते हैं किंतु पूर्ण शुद्धता से कोई नहीं। ये तर्क उनके हैं जो रीड 'की बोर्ड' वाले वाद्यों को पूर्णतः वर्जित कर देंगे। इसे हमारे संगीत की मुख्यधारा के अनुरूप ढालने की आवश्यकता है।

तत-वाद्य

तत-वाद्य की संख्या और किस्में इतनी अधिक हैं कि उनके प्रारंभिक रूपों की खोज करना दुश्वार है। कभी कभी तो उनका वर्गीकरण भी मुश्किल हो जाता है। आज इसके कितने ही प्रकार प्रचलित हैं जैसे वीणा, बीन, सितार, पियानो तथा सारंगी आदि। इनमें से प्रत्येक के कितने ही प्रकार हैं। इनकी वादन-विधि और बजाने के तरीके भी अनेक हैं। अतः यह मान लेना ही उचित है कि अनेक तरह के उपकरणों, पदार्थों तथा मिश्रणों के बाद ही इन तंतु-वाद्यों का क्रमिक विकास संभव हुआ होगा। इसके बारे में विभिन्न मत हैं किंतु कोई भी सर्वमान्य तथा संपूर्ण नहीं कहा जा सकता। कुछेक विद्वानों ने इन्हें आदिमकालीन शिकारी के धनुष से उत्पन्न माना है तो अन्य इसका उद्गम वीणा से मानते हैं और कुछ इसे बांस निर्मित सितार से निकलना स्वीकार करते हैं। इस प्रकार इसकी खोज और अध्ययन होते गए हैं। शिकार का धनुष एक प्राचीन तथा सुपरिचित औजार रहा है अतः अनेक विद्वानों का विश्वास है कि कई प्रकार की वीणा उस धनुष से ही विकसित हुई हैं। आदिमकालीन धरती वीणा ऐसी होती थी कि धरती में गड्ढा खोद कर उसके मुख को पशु चर्म से मढ़ दिया जाता था। फिर एक लचीले लकड़ी के डंडे से गड्ढे के साथ बांध दिया जाता था। एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक तार या तंतु बांध कर उसे आधे धनुष जैसा रूप दिया जाता था। धनुष की इस डोरी को छेड़ कर आघात द्वारा बजाया जाता था। यद्यपि इस प्रकार के वाद्य के अस्तित्व का कोई स्पष्ट प्रमाण भारत में तो नहीं मिला है। बांस का एक तरह का सितार एक छोटे से बांस से बनाया जाता है। बांस को चीर कर, दो पट्टियां उधेड़ कर बांस की खूंटियों से बांध दी जाती हैं। इन्हीं पट्टियों से बने तारों को किसी छोटी-सी डंडी से छेड़ कर बजाया जाता है। हमारे देश में ऐसा ही यंत्र सभी प्रकार के सितारों का मूल उद्गम स्त्रोत बना होगा। असम में इसे गिंगतांग, आंध्र में रोंज़ा गोंतम तथा अन्य नामों से जाना जाता है। अनेक ऐसे टेढ़े मेढ़े रास्तों से ही तंतु-वाद्यों का विकास हुआ है, मगर इस सबके गहन अध्ययन की आवश्यकता नहीं है।

इन तंतु-वाद्यों के तीन खास वर्ग माने गये हैं। इसमें पहले वर्ग के वाद्यों का उपयोग किसी राग या लय के सृजन हेतु न करके ताल मिलाने के लिए किया जाता

है। दूसरे वर्ग में एकाधिक त्रिज्या या तांत वाले वाद्य आते हैं; जिनमें वीणा, बीन, पियानो जैसे वाद्य यंत्र शामिल हैं। इन पर लय-राग निकाले जा सकते हैं। इनमें एक स्वर के लिए एक तार निर्धारित होता है। इसके बाद तीसरा वर्ग, जो सबसे बड़ा वर्ग है उसमें त्रिज्या या तांत वाले वाद्य-वृंद आते हैं इनमें एक ही तार सभी लय निकालने में समर्थ होता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस वाद्य में तार एक से अधिक हो सकते हैं, किंतु इनमें से प्रत्येक तार अलग स्वर निकाल सकता है और वह भी बिना दूसरे तारों की सहायता के यानी स्वतंत्र रूप से। त्रिज्या वाले ये वाद्य बिना पर्दे वाले भी हो सकते हैं तथा पर्दे वाले भी। इनकी गर्दन लंबी भी हो सकती है और छोटी भी। तोड़ी हुई या कसी हुई भी हो सकती है। हम इस वर्ग के असंख्य वाद्यों में से कुछेक प्रमुख वाद्यों का ही वर्णन करेंगे। इन वाद्यों की तुलना हम सुषिर-वाद्यों से करें तो एक प्रकार की समानता स्पष्ट दिखायी देगी। हार्मोनिका और फिफली



32. तुनतुना, एकतारा, तंबूरा

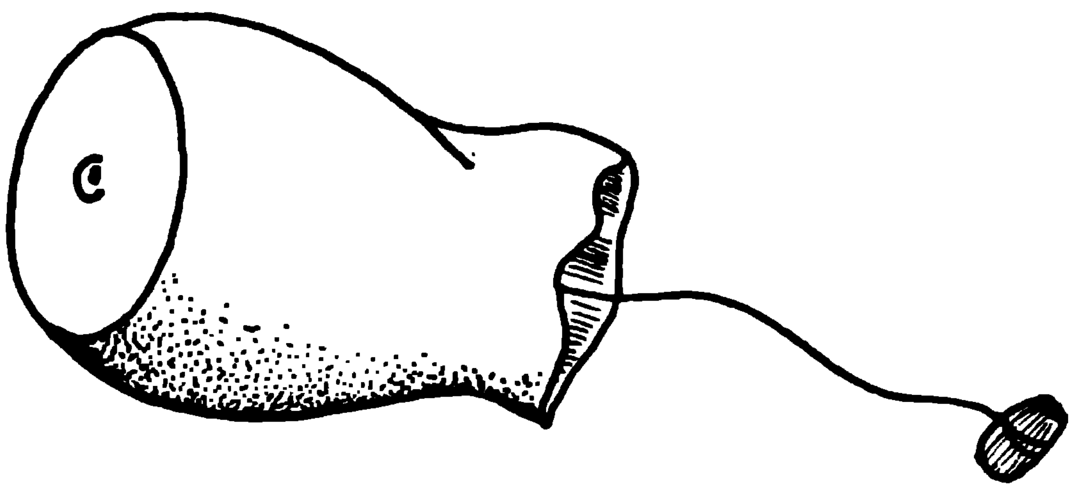
भी त्रिज्या वाले वाद्यों के समान होती हैं जहां प्रत्येक स्वर के लिए एक रीड होती है। इसी से मिलती जुलती होती है वंशी या शहनाई जिसमें सारे स्वर वायु के एक

वेग से निकाले जा सकते हैं। मशक बाजों में एक सामान्य उदाहरण तुनतुने या तुनतिना का दिया जा सकता है। यह वाद्य प्रायः दक्षिण-मध्य भारत और पश्चिम भारत में प्रचलित है। वहां के भिक्षुक इसे अपने साथ लेकर चलते हैं। यह आकार में छोटा होता है। लगभग 25 सेंटीमीटर ऊंचा और 15-20 सेंटीमीटर चौड़ा लकड़ी का पोला वर्तुलाकार खोल, जिसकी नीचे की तह चमड़े से मढ़ी हुई होती है। बाहर की तरफ लगभग 75 सेंटीमीटर लंबे बांस के टुकड़े को इसमें कस दिया जाता है। इस बांस के ऊपर एक खूंटी गाढ़ कर तार कस दिया जाता है। यही तार नीचे मढ़े हुए हिस्से तक जाता है। खूंटी को घुमा कर इस तार को कसा जाता है या ढीला किया जाता है। गायक इस तुनतुने को अपने हाथ में पकड़े रहता है तथा ऊंगली से तार को छेड़ कर विभिन्न.स्वर निकालता रहता है। इसी से वह इस प्रकार की लय उत्पन्न कर लेता है। महाराष्ट्र के लोकगीतों–खासकर तमाशा और पौवाड़ा में तुनतुने की संगीतात्मक क्षमता का सही रूप देखने को मिलता है। (32)

तुनतुना (तुनतुने) का ही एक अन्य रूप गोपी यंत्र (गोपी जंत्र) है जिसे कभी कभी इकतारा भी कह देते हैं। यों गोपी यंत्र का प्रचलन बंगाल तथा बिहार में है। बंगला में बाउल गायक इसी वाद्य यंत्र को लेकर चलते हैं। गुरू और नैसर्गिक प्रेम के भजन गाने वाले ये बाउल गायक वैष्णव भक्ति और कहीं कहीं सूफी मत के गीत गाया करते हैं। गांव गांव विचरण करते ये गायक अपने गोपी यंत्र को बजाकर ही गाते हैं। देहतत्व के या बाउल गीतों को गोपी यंत्र के सुमधुर स्वरों पर (खमक तथा बायन ढोलकी बजा कर सुनाते हुए वे एक समां बांध देते हैं) तुनतुने की तरह गोपी यंत्र में भी लय उत्पन्न करने के लिए निम्न भाग काठ तथा चमड़े से मढ़ा हुआ होता है। किंतु उसका कटोरा, यद्यपि लगभग खोल ही होता है, नीचे से चौड़ा होता है जो क्रमशः ऊपर की ओर संकरा होता चला जाता है। तुनतुने में ऐसा नहीं होता मगर गोपी यंत्र में बांस पर तार नहीं बांधा जाता, न इसमें वैसी खूंटी होती है। इसमें सिर्फ बांस का कांटा होता है जिसे मढ़े हुए चमड़े के ऊपर अटका दिया जाता है। ऊपरी भाग में अक्सर खूंटी भी लगा देते हैं। तार एक ही होता है, जो ऊपर से नीचे तक जाता है। यह वाद्य इसके समानधर्मी तुनतुने से कहीं अधिक चपल और स्वर बदलने की क्षमता रखता है। क्योंकि यह तुनतुने की अपेक्षा कहीं अधिक सुरीले और गहरे स्वर निकाल सकता है। ऊंगली में एक कांटा या बड़ा पर लगा कर तार को एक हाथ से ही छेड़ते हैं। कांटे को दबाने और छोड़ने से तार पर हुए घर्षण से स्वर और लय निकलने लगते हैं। तार आवश्यकतानुसार किसी स्वर में मिला लिया जाता है।

तुनतुना और गोपी यंत्र से ही मिलते जुलते तथा उसी वर्ग के अन्य वाद्य यंत्र हैं–प्रेमताल, खमक (बंगला), चोनका (मराठी) तथा जमीदिका (तेलुगु)। इनकी बनावट में अवश्य भिन्नता है, जो आगे के वर्णन से स्पष्ट हो सकेगी। इनके वादन में

लयात्मकता का प्रभाव अधिक होता है जबकि मशक बीन की प्रकार के अन्य दो वाद्य गायन विशेष को मूल स्वर देने का कार्य करते हैं। इनके आदि रूप में तुंबे

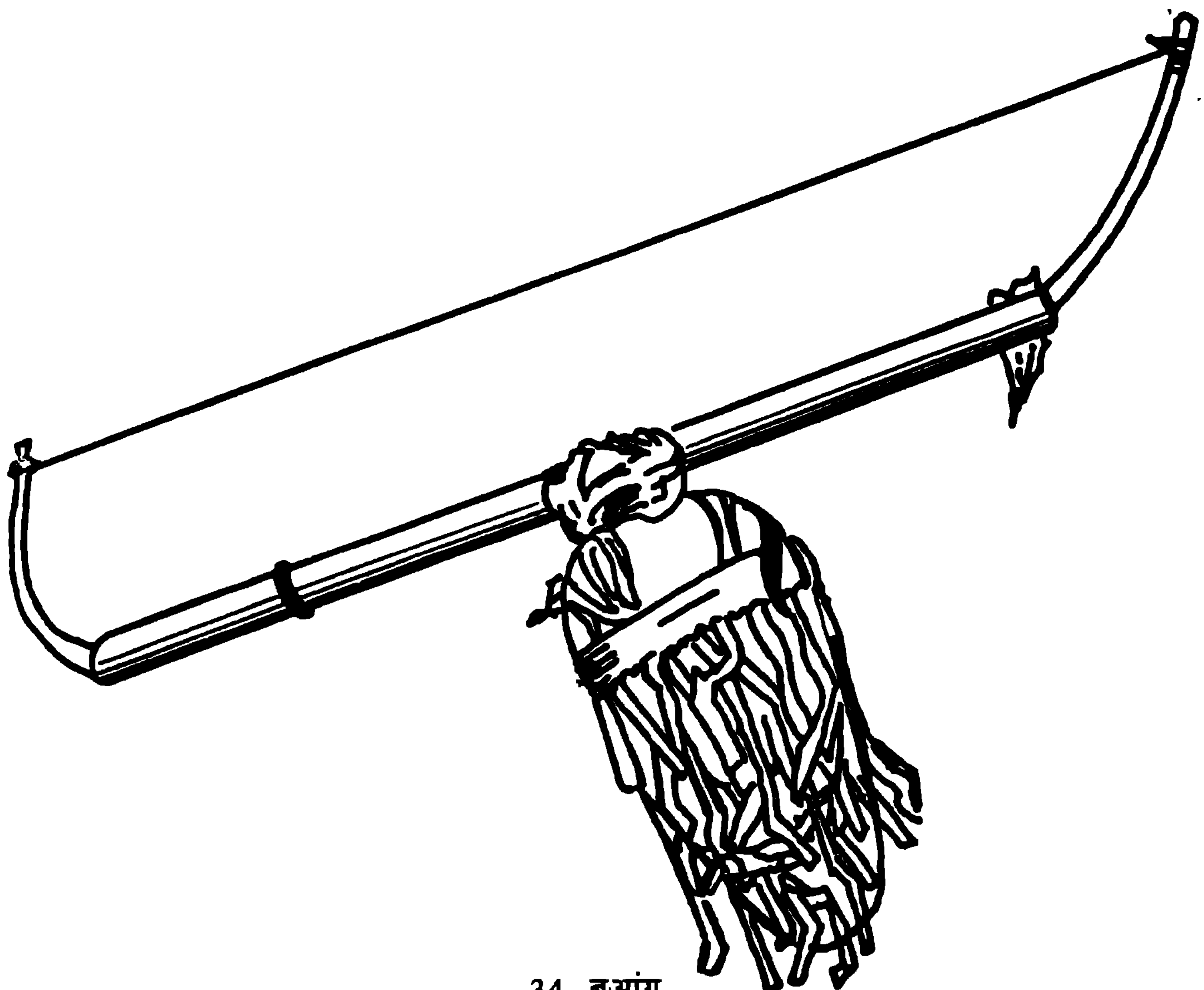


33. प्रेमताल या चोनका

का ही प्रयोग होता था, मगर काठ के खोखले पर बने वाद्य भी प्रचलन में हैं। तुनतुना और गोपी यंत्र की भांति इनमें भी चमड़े की झिल्ली मढ़ी जाती है, जिसमें बाहर की ओर तार फंसा कर निकाल लिया जाता है। यह तार लगभग 60 सेंटीमीटर का होता है मगर इनमें केवल इतनी ही समानता है, क्योंकि न इसमें बांस का दंड होता है और न बांस का कांटा जो इसकी तांत को थामे रहे। इसे बजाते समय, वादक को इसे अपनी बगल में दबाना होता है और उसी हाथ से तांत के दूसरे सिरे को थामना होता है। इसी सिरे पर लकड़ी का कुंदा होता है जिसे पकड़ कर तांत को कड़ा रखा जाता है। लकड़ी के एक कांटे द्वारा दूसरे हाथ से तारों को छेड़ते हैं। ऐसा करते समय, उस हाथ को जरा धक्का देते हैं, जिसमें इसे थामे हुए हैं। परिणाम होता है स्वर और लय का अद्भुत संगम, जिसका आनंद घंटों तक लिया जा सकता है। इन वाद्य यंत्रों का प्रयोग सपेरों और लोकगायकों–बिरहा या आल्हा गायकों द्वारा किया जाता है। (33)

उड़ीसा के संथाल लोग एक अत्यंत लयात्मक वाद्य बजाते हैं, जिसे वे बुआंग कहते हैं। आकार में यह बड़ा या छोटा दोनों तरह का होता है। अक्सर यह लगभग एक मीटर लंबा होता है। इसे बांस की नली, प्रतिध्वनि उत्पन्न करने वाले खोल तथा रस्से से बनाया जाता है। अंडे के आकार के बांस के खोल पर कागज चिपका कर इसे ध्वनि रोक यंत्र में बदल दिया जाता है। कोई भी कागज यहां तक कि अखबारी कागज और रंग बिरंगे पतले कागज की सुंदर कतरनें जोड़ कर इसे नयनाभिराम रूप दिया जाता है। इससे प्रतिध्वनि पैदा होती है और इसे एक आकर्षक रूप रंग भी सुलभ हो जाता है। इस बांस की टोकरी को बांस दंड के नीचे मध्य भाग में बांध

दिया जाता है। बांस दंड के दोनों खुले मुखों पर पेड़ की मुड़ी हुई टहनियां कूंच दी जाती हैं। ये टहनियां कुछेक सेंटीमीटर लंबी होती हैं। पटुवे की रस्सी से इसके



34. बुआंग

दोनों सिरों को जोड़ दिया जाता है, बस वाद्य यंत्र तैयार है। सामूहिक नृत्य में ऐसे दो बुआंग बजाये जाते हैं। हालांकि उनकी संख्या अधिक भी हो सकती है क्योंकि इस पर कोई प्रतिबंध नहीं है। नर्तक अपने एक हाथ में बांस दंड को थामे रहता है, रस्सी को खींचता और छोड़ता है। इससे बूम-बूम जैसी ध्वनि निकलती है। यह बुआंग वाद्य एकदम आदिमकालीन है, अत्यंत साधारण भी है। किंतु इसे बांस से बांधना तथा अन्य आकृतियों और लक्षणों से ही संभवतः तुंबे और काठ के ध्वनि उत्पन्न करने वाले साधनों का विकास हुआ होगा। ऐसी स्थिति में बुआंग वाद्य को ऐसे तमाम वाद्य यंत्रों का पूर्वज या पुरखा माना जा सकता है। इससे ही आधुनिक विकसित सितार आदि वाद्य अपना रूप ग्रहण कर सके हों, यह भी संभव है। (34)

अब हम उन मशक वाद्यों की चर्चा करेंगे जिनमें कहीं अधिक मिलावट है। इस वर्ग में सर्वोच्च है तंबूरा। इसका प्रमुख वर्ग एकतार वाले वाद्यों का है। तंबूरी वर्ग के वाद्य भी तंबूरा के ही मोटे रूप हैं। एक तार या एक नाद वस्तुतः एक तंत्री वाद्य होता है। यह बात इसके नाम से भी प्रकट है। इसमें ध्वनि उत्पन्न करने वाला माध्यम एक चपटी सूखी तुंबी से ही निर्मित होता है। दंड को इसके खोखले भाग में कूंच

दिया जाता है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है जिसे ध्यानपूर्वक स्मरण रखना है, क्योंकि बीन या सारंगी जैसे वाद्यों का प्रारंभ यहीं से हुआ है और सितार, सरोद तथा सरस्वती वीणा इसी बिंदु से विकसित हो सके हैं। स्मरण रहे कि बुआंग में टोकरी या खोल को दंड के नीचे रखा जाता था। इस तरह के बांधने से, आगे जाकर, रुद्र वीणा, विचित्र वीणा तथा वैसे ही अन्य सितार वाद्यों को रूप मिला। अब तनिक एक तार वाले वाद्यों की ओर मुड़ें : इनमें तुंबे के नीचे की ओर से थोड़ा हट कर दंड को लगाया जाता है। एक छोटी-सी खूंटी से धातु निर्मित तार निकलता हुआ, पूरे आकार के ऊपर होकर गुजरता है और बांस दंड के धुर छोर पर लगी खूंटी पर उसे कस दिया जाता है। तार के नीचे, ध्वनि उत्पन्न करने वाले माध्यम के ऊपर लकड़ी या बांस से निर्मित पतला पुल जैसा बना दिया जाता है। एक तार को आगे पीछे हरकत देकर छेड़ा जाता है। यह वाद्य यंत्र भिक्षुकों और भजन गायकों का सहचर है। एक तार शब्द अक्सर मिथ्यानाम लगता है क्योंकि ऐसे अनेक लोक-वाद्य हैं जिनमें दो तार होते हैं, मगर फिर भी उन्हें इकतारा कहा जाता है जैसे गुजरात का रामसागर। इस नाम विशिष्ट से कई बार तो थोड़ा-बहुत भ्रम भी उत्पन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए गोपी यंत्र जो स्वरूपात्मक दृष्टि से एक तार कहे जाने वाले वाद्य यंत्रों से काफी भिन्नता लिये हुए है, उसमें भी एक ही तार होता है। (32)

मशक वाद्यों के विकास के अगले चरण में तंबूरी को लिया जा सकता है। यह एक आम वाद्य है, जिसे दक्षिण के घुमंतू भिक्षुक प्रायः अपने साथ लिये होते हैं। यह छोटा-सा तार वाद्य लगभग एक मीटर लंबा होता है। इसलिए इसे आसानी से एक से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है। स्वरपेटिका काष्ठ की बनी वृत्ताकार होती है। इसका ऊपरी खोल चपटे काष्ठफलक का होता है। यंत्र के पोले भाग में एक छोटी ग्रीवा होती है, जिसे दंड कहते हैं और दंड के अंत में नाग के फन जैसी मूठ होती है। इस स्वरपेटिका के नीचे की ओर से निकलते और उसके ऊपर एक पुल-सा बनाते हुए धातु के चार तार जो मूठ पर लगी खूंटी तक जाते हैं, उन्हें निरंतर झंकृत किया जाता है, जो गायक के साथ संगत करते हैं।

तंबूरी विकसित हो कर संगीत सभा के तंबूरा या तानपूरा में परिवर्तित हुयी, कोई दूसरा यंत्र समृद्धि में उसकी बराबरी नहीं कर सकता। प्रत्येक तार से निकलने वाले सुर तथा उनके विभिन्न मेल से बनी ध्वनियां इतनी हैं कि उनका विश्लेषण लगभग असंभव है। ध्वनि का यही वैविध्य है, जो किसी भी वाद्य या गायक के आरोही-अवरोही स्वरों की संगत में इसको इतनी उपयुक्तता प्रदान करता है। फिर भी तंबूरा की रचना बहुत सरल है। स्वरपेटिका लगभग 90 सेंटीमीटर परिधि के एक बड़े कद्दू की बनी होती है। महाराष्ट्र में पंडरपुर के निकट विशेष रूप से कड़े छिलके वाला यह फल बहुतायत में उगता है हालांकि कुछ मात्रा में ज़ाजिबार (ज़ायर) से इसका आयात भी किया जाता था। सूखने के लिए फल को धुंधुआती आंच के

काफी ऊपर लटका दिया जाता है, कई वर्षों में यह पर्याप्त सूख जाता है। तब इसको वांछित आकार में काट कर अंदर का सूखा गूदा निकाल लिया जाता है।

खुला हुआ कटा भाग पतली लकड़ी से ढक दिया जाता है और यों स्वरपेटी तैयार हो जाती है। लकड़ी की बनी बहुत ही छोटी ग्रीवा जोड़ी जाती है और इस को पोली लंबी ऊंगलियों से संचालित पट्टिका अथवा दंड (डंडा) से जोड़ दिया जाता है। पुरुषों द्वारा प्रयुक्त धीमी ध्वनि के तंबूरे की कुल मिला कर लंबाई 150 सेंटीमीटर होती है तथा स्त्रियों द्वारा बजाए जाने वाले ऊंचे सुर वाले तंबूरे इससे काफी छोटे होते हैं। यंत्र में धातु के चार तार लगे होते हैं और झंकृत करने के लिए इनको ऊंगलियों से खींचा जाता है, तंबूरे पर कोई धुन नहीं निकाली जाती। उत्तर और दक्षिण की किस्मों में थोड़ा-सा अंतर है। अभी जिसका हमने वर्णन किया है, वह उत्तर भारत का तंबूरा है, दक्षिण में इस्तेमाल होने वाली किस्म अपेक्षाकृत छोटी होती है और उसका निर्माण कद्दू की बजाय पूरी तरह लकड़ी से ही होता है। कोई भी क्षेत्रीय किस्म हो वाद्य यंत्र की घोड़ी बहुत दिलचस्प होती है। यह सारंगी, सरोद अथवा वायलिन के विपरीत चौड़ी होती है और हाथी दांत, हिरन के सींग, ऊंट की अस्थि या लकड़ी की बनी होती है और इसमें एक विशेष नाभि होती है। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण चीज तार और घोड़ी के बीच लगी सूत, ऊन या रेशम की डोरी है। यह डोरी जिसे जीवन या ज्वारी कहा जाता है विशेष महत्व की है और केवल इसी अवस्था में जबकि यह सही तरह खींची जाती है और तारों से मधुर सुर निकलते हैं वर्ना सुर दबे हुए रहते हैं। संभवतः यही चौड़ी घोड़ी और ज्वारी, जिसे प्राचीन काल में जीवा अथवा सुर में प्राण फूंकने वाली कहा गया, यंत्र निर्माण के संसार को मिला एक वरदान है। भारत में जीवा अब से हजारों वर्ष पहले से ज्ञात है और अपने प्रारंभिक चरण में यह बांस की फांस थी जिसे मुख्य तौर पर एक तंत्री (एक तार नहीं) में लगाया जाता था। (32)

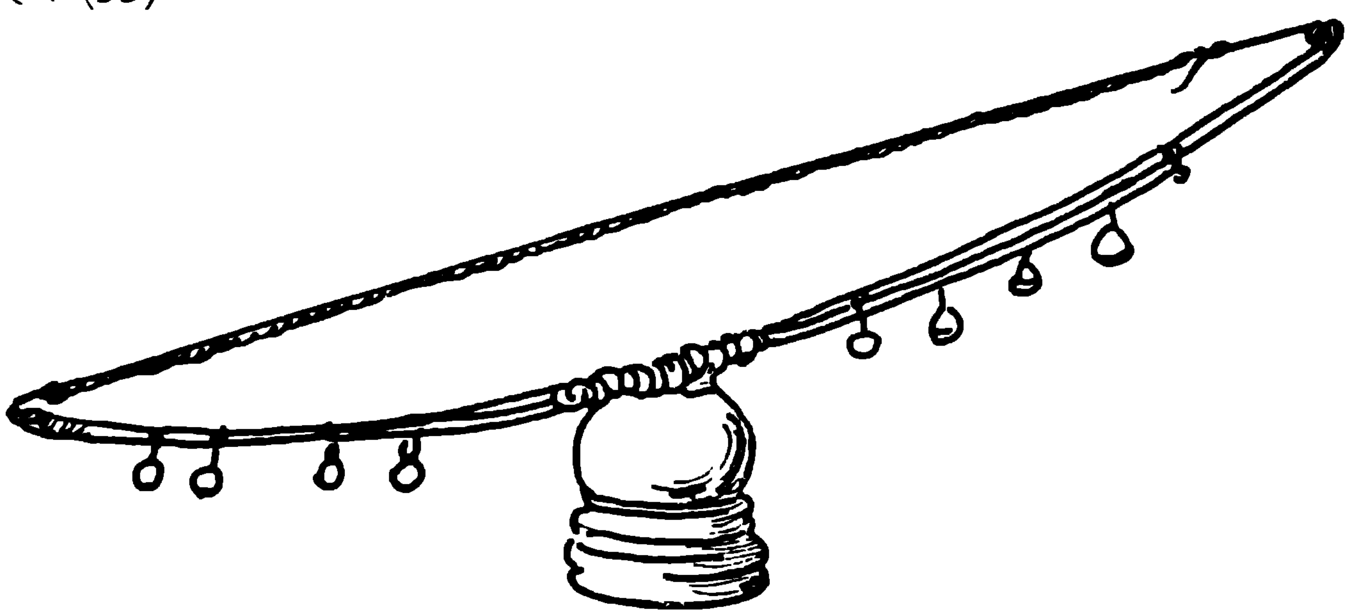
पिछले वर्णन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचना संभव है कि तंबूरे की उत्पत्ति सरल लोक-वाद्यों से हुयी है, लेकिन पुस्तकीय तथा पुरातात्विक प्रमाण जिनका काल ज्ञात हो सकता है कपोल कल्पित भी नहीं होते और न सदैव विश्वसनीय ही होते हैं। संगीत-शास्त्रों में प्रायः कोई वैज्ञानिक आधार पर विचार योग्य सामग्री नहीं होती है। उदाहरणार्थ, तंबूरे को सदैव संत तुंबरु एवं नारद के साथ बताया गया है जो पौराणिक पात्र हैं और यदि वे ऐतिहासिक भी हों तो उनके इतिहास का कुछ भी ज्ञात नहीं है। इन नामों के साथ तंबूरे का संबंध यह बताता है कि यह वाद्य ज्ञात इतिहास से भी पहले से ही चला आ रहा है। संभवतः इस वीणा ने यह नाम तुंबी अथवा तुंबीफल से ग्रहण किया हो जिसका आशय कद्दू से होता है। तंबूरे का वर्तमान स्वरूप 16वीं शताब्दी के आसपास विकसित हुआ प्रतीत होता है और तब से तारों में वृद्धि तथा मिलाने के अंदाज के अतिरिक्त अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है।

अब हम मधुर तार वाद्यों का अध्ययन आरंभ करते हैं, जो स्वयं, एक विशद विषय है और जिसका भारतीय संगीत पर अमिट प्रभाव रहा है। यहां इसके विषय में कुछ शब्द कहना अप्रासंगिक न होगा यद्यपि हम विषय के तकनीकी विस्तृत विवादों में नहीं पड़ेंगे। हमारे उद्देश्य के लिए यह पर्याप्त होगा कि तत-वाद्यों के दो मुख्य प्रकारों की चर्चा की जाए। एक को बहुतार और दूसरे को एकतार कहा जाता है जिनके विषय में इस अध्याय के प्रारंभ में संक्षेप में चर्चा की गयी है। संरचना में मूलभूत अंतर और प्रत्येक वर्ग की संगीत की संभावनाओं के कारण भारत में दो एकदम अलग स्वर पद्धतियां विकसित हुयीं। दोनों पद्धतियों की अपनी अलग शब्दावली थी किंतु ऐतिहासिक परिवर्तनों की प्रक्रिया के दौरान दोनों संगीत पद्धतियां आपस में मिल गयीं और पुस्तकीय अध्ययनों ने अनेक विवादास्पद भ्रांतियां उत्पन्न कीं। चूंकि बहुतार में एक तार एक सुर संबंध था तो वीणा से संबंधित विभिन्न सुरों पर आधारित सिद्धांत विकसित हुए, इनको मूर्च्छना पद्धति कहा गया। दूसरी ओर, एक तंत्री, सरोद और सारंगी आदि वाद्य थे जिनमें एक तार था लेकिन अनेक सुर संबंध थे। पर्दे लगाने के तरीके ने सुरों को एक तार पर सीमित किया। इसने स्वाभाविक रूप से पर्दे की स्थितियों के बारे में एक सिद्धांत विकसित किया जिसे मेला पद्धति कहा गया। संगीत की स्केल पद्धति ने लगभग 15वीं शताब्दी तक राज किया, लेकिन धीरे धीरे दूसरी पद्धति ने जड़ें जमानी शुरू कीं और धीरे धीरे पहली को बेदखल कर दिया। हिंदुस्तानी और कर्नाटक दोनों ही संगीत शैलियों में हम मेला पद्धति के अनुसार राग सिद्धांत का अनुसरण करते हैं जो स्वयं एक तार अथवा ऊंगली से संचालित वाद्य है।

बहुतार, जिन्हें, आगे या पीछे किसी विशेषण के सहित या रहित वीणा भी कहा जाता है जो भारत में सबसे प्राचीन समय से ज्ञात तार वाद्य हैं लेकिन इनकी व्युत्पत्ति का सर्वमान्य सिद्धांत अभी तक नहीं खोजा जा सका है। सर्वाधिक प्रचलित परिकल्पना यह है कि धनुषाकार बहुतार यंत्र जिसे अंग्रेजी में 'हार्प' कहा जाता है, शिकारी के धनुष से विकसित हुआ होगा। ऐसी मान्यता है कि शिकारी के धनुष की प्रत्यंचा की टंकार ने आदिम मानव को संगीत में इसके उपयोग का विचार सुझाया होगा। स्वाभाविक है कि केवल एक तार का वाद्य होने के कारण शुरू शुरू में यह केवल सुर-लय देने के काम भर ही आया होगा। उसी धनुष में अनेक तार समानांतर लगा कर भिन्न भिन्न सुर प्राप्त किये होंगे और यों वीणा बनी होगी।

तमिलनाडु तथा केरल में पाया जाने वाला **विल्लादी वाद्यम्** धुनषाकार वाद्य यंत्रों का एक उदाहरण है। नाम़ से ही इसका संकेत मिलता है क्योंकि तमिल और मलयालम में विल्लु का अर्थ है धनुष और आदि का अर्थ है बजाना। दूसरे शब्दों में यह एक बजाने वाला धनुष है। वाद्यम् बहुत सादा है, और यह प्रायः दो से तीन मीटर लंबे धनुष से बना होता है। धनुष की प्रत्यंचा पटुवे या चमड़े की डोरी होती है। यह

विल्लु एक मिट्टी के बने उलटे रखे पात्र पर रखा जाता है जो (अलग करने योग्य) ध्वनि विस्तारक का काम करता है। धनुष की प्रत्यंचा पर कुछ जोड़ी घंटियां या घुंघरू लगे होते हैं, जो डोरी खींचने पर खनक उठते हैं। विल्लादी वाद्यम् लोकगीत की एक किस्म, जिसे विल्लु पट्टु कहा जाता है, के साथ संगत में प्रयुक्त होता है। मुख्य गायक इस वाद्य को अपने सामने रख कर बैठता है, गीत गाने के साथ वह दो भारी छड़ियों से रस्सी पर बजा कर ताल देता है मिट्टी के पात्र की अनुगूंज एवं गेजई की खनक से ताल उत्तेजक हो जाती है। उसके साथ कलाकारों का समूह भी होता है जो गायन में और ताल में मंजीरे, खंजरी तथा उडुक्की बजा कर साथ देते हैं। (35)



35. विल्लादी वाद्यम्

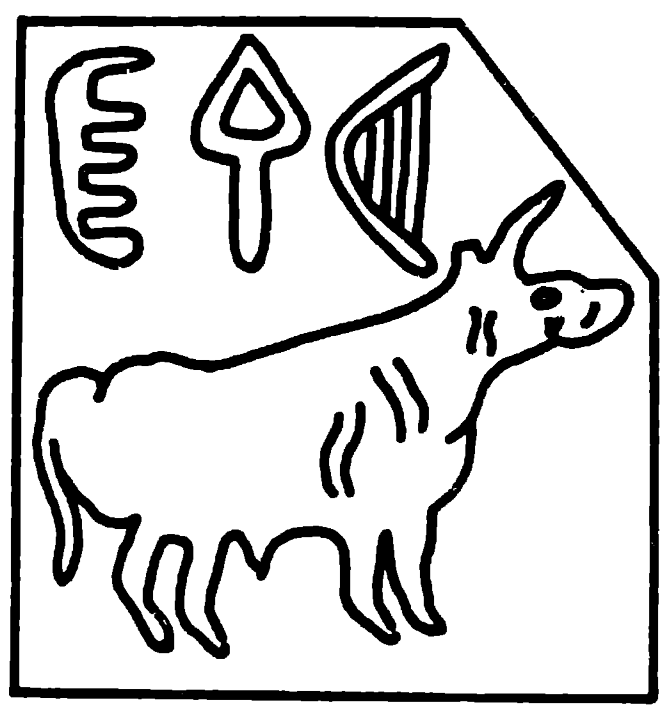
यहां दो प्रकार के बहुतार वाद्यों की चर्चा की जा रही है : वीणा एवं बीन। वीणा को एक ऐसे धनुष के रूप में देखा जा सकता है, जिसमें धनुष की प्रत्यंचा के समानांतर तीन या चार तार और लगे होते हैं, जो निश्चय ही हमें यह सोचने से नहीं रोक सकते कि वीणा की उत्पत्ति धनुष से हुई होगी क्योंकि हम इसके आकार और संरचना के आधार पर बात कर रहे हैं। दूसरी ओर बीन अलग तरह का वाद्य है, इसमें भी वाद्य का आकार धनुष जैसा होता है। धनुष की प्रत्यंचा के स्थान पर एक छड़ लगी होती है जिसे 'क्रास बार' (आर पार निकलने वाली छड़) कहा जाता है। इस क्रॉस बार पर लंबाई में अनेक तार लगे होते हैं, जो एक ओर तो इस क्रॉस बार से जुड़े होते हैं और दूसरी ओर 'धनुष' से। इस प्रकार से बनी वीणा और बीन सुर और आवृति में बहुत धीमी ध्वनि की होती हैं। इसलिए इस कमी को दूर करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि एक स्वरपेटिका साथ लगा दी जाए। इसके आदि स्वरूप में वादक अपने मुंह के निकट धनुष को रखता है और बजाता है। आंशिक रूप से खुले मुंह का उपयोग ध्वनि विस्तारक की तरह होता है जैसाकि कुछ अफ्रीकी वाद्य यंत्रों में देखने को मिलता है। एक अस्थायी ध्वनि विस्तारक लगाना

इसका अलग चरण है जैसाकि विल्लादी वाद्यम् में देखने को मिलता है जहां धनुष को अस्थायी तौर पर एक मिट्टी के उलटे रखे पात्र पर रखा जाता है और इस अस्थायी को स्थायी स्वरपेटिका से बदला जाता है। लौकी को दंड से बांध कर धनुष की डंडी को कद्दू में घुसा दिया जाता है। इसके आगे लकड़ी के एक तुंबे में पर्दे लगा कर और काष्ठ से ही ढक कर कद्दू के स्थान पर बेहतर स्वरपेटिका तैयार की जा सकती है। इसको हम सभी भारतीय वीणा, सितार आदि में देखते हैं।

बीन संभवतः हमारे देश में कभी नहीं रही। अब तक सिंधु घाटी के एक उदाहरण के सिवाय बीन का कोई वर्णन या चित्र प्रकाशित नहीं हुआ है। इस उदाहरण में एक चित्र में बीन से मिलता जुलता एक वाद्य दिखाया गया है जिसके विषय में अभी तक यह निश्चित नहीं हुआ है कि यह बीन है भी या नहीं।

वीणा इस प्रागैतिहासिक काल तक देखी गयी है। कुछ मुहर एवं शिलालेख मिले हैं, जिन पर तीन अथवा चार 'तार' वाले धनुष अंकित हैं और पूर्ण संभावित है कि यह वीणा ही है। यों भी यह चित्र ऐसी कलात्मकता से बने हैं कि इस वाद्य यंत्र की संरचना या वादन शैली के विषय में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। (36)

वीणा शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वेदों में प्रतीत होता है। अश्वमेध यज्ञ में वीणा का प्रयोग ऋचाओं के साथ किया गया है और वेद इसकी स्तुति यों करते हैं, "यह वीणा वास्तव में सौंदर्य एवं समृद्धि का मूर्त रूप है।" प्रमाण हैं कि प्रातकाल इसे विशेष रूप से बजाया जाता था। ऋग्वेद में एक कथा आती है जो इस प्रकार है : एक बार असुरों ने ऋषि कण्व को अंधेरे कमरे में बंद कर दिया और आंखों पर पट्टी बांध दी। उनकी रिहाई की शर्त यह थी कि किसी भी तरह अपनी आंखों का प्रयोग किये बिना वह सुबह होने की बात बताने के योग्य होने चाहियें। घंटे बीते और ऋषि को वीणा की मधुर धुन सुनायी दी और उन्हें मालूम हो गया कि सुबह हो गयी है। उन्होंने अपने अपहरणकर्ताओं को बिना अपनी सूचना का स्त्रोत बताये इसकी जानकारी दी और उन्हें मुक्त कर दिया गया। हमारे संपूर्ण



36. सिंधु घाटी से प्राप्त चित्र में प्रागैतिहासिक बीन

साहित्य में वीणा के अनेक काव्यात्मक वर्णन हैं। रामायण में हनुमान सीता की खोज में रावण के अंतपुर में जाते हैं। वहां आधी रात को वह अनेक संगीतकारों को सोते हुए देखते हैं। एक वीणा-वादिका जो अपनी बाहों में वीणा को लिये सो गयी है उसकी उपमा कवि ने नदी में एक नाव से लिपटी कमलनाल के गुच्छ से दी है। फिर राजकुमार उदयन की प्रसिद्ध कथा है जिन्होंने अपनी वीणा से राजकुमारी वासवदत्ता को मोहित किया और फिर विचरते हुए एक पागल हाथी को भी वश में किया। शिव के डमरू और कृष्ण की वंशी की तरह वीणा का भी धार्मिक एवं गूढ़ महत्व है। इनमें से एक दक्षिणमूर्ति के रूप में शिव से संबंधित है, जिन्हें प्रायः वीणाधर दक्षिणमूर्ति कहा गया है। उन्हें प्रायः एक तुंबे वाली बिना पर्दे की वीणा लिये दिखाया गया है, जो उनके सीने पर लटकी है और वह सनकादिक ऋषियों को शिक्षा देते दिखाए गए हैं। इस सबके अतिरिक्त वीणा सरस्वती का वाद्य है। वह सब विद्याओं की देवी हैं और वीणा पुस्तक धारिणी हैं, जो ध्वनि और ज्ञान के दैवी स्रोतों की स्वामिनी हैं। अतः उनके विषय में कोई कविता-चित्र या मूर्ति वीणा एवं पुस्तक के बिना संपूर्ण नहीं हो सकती। लेकिन वह भी नाद के सागर की गहराई या विस्तार को नापने में समर्थ नहीं हैं। "सरस्वती भी नाद के सागर में अनंत विस्तार को नहीं जान सकी हैं। डूबने से भयभीत होकर वह तुंबे (वीणा के) को (तैरने के लिए) सीने से लगाए रहती हैं।" इस महानता पर कोई भी टिप्पणी व्यर्थ है।

वैदिक वीणाओं में से सबसे अधिक ज्ञात वीणा है वन वीणा अथवा महा वीणा जो मूंज (घास) के सौ तारों से बनी होती है और बांस की दो खपच्चियों से बजायी जाती है। वाद्य यंत्र के दंड में दस छिद्र होते थे और प्रत्येक छेद से दस तार निकलते थे, इस प्रकार कुल मिला कर सौ तार होते थे। इनमें से तैंतीस तार अधवर्यु (मुख्य पुजारी) बांधता था और इतने-इतने ही तार होता (ऋग्वेद का पाठ करने तथा आहुति देने वाला) और उद्‌गाता (सामवेद का पाठ करने वाला उपासक) बांधते थे। सौवां तार यजमान (गृहस्वामी) बांधता था जो यज्ञ को करवाने वाला होता था। उद्‌गाता ऊंचे आसन असंधि पर बैठता था और यज्ञ के दौरान शेष घास की चटाई पर बैठते थे और मंत्र पाठ करते थे। इसके परवर्ती साहित्य में इस वाद्य के समकक्ष शततंत्री वीणा है जिसका अर्थ सौ तारों से युक्त वीणा है। कुछ लोगों का मत है कि वन वीणा कश्मीरी संतूर, जिसका वर्णन आगे किया जाएगा, का मूल स्वरूप है।

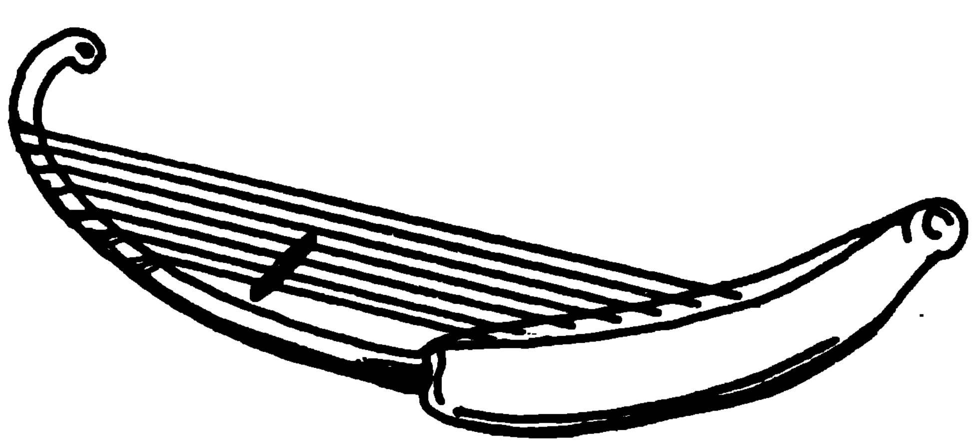
यह पाठकों के ध्यान में आने से नहीं बचा होगा कि इन प्रारंभिक तत-वाद्यों में तार धातु के नहीं बल्कि बुनने योग्य घास (मूंज) के बने होते थे। पशुओं के स्नायु का भी प्रयोग इसके लिए किया जाता था और अब अधिकतर इनकी जगह धातु के तार ने ले ली है। यह फिर स्मरण किया जा सकता है कि तत-वाद्य का नाम तमिल में **नरांपु करूवी** है और नरांपु का अर्थ पशु की आंत है। वृहत कथा सरित्सागर में कनकपुर की एक शिक्षाप्रद कहानी है जिसमें राजकुमार बिंदुमती से पूछता है कि

उस जैसी दयालु कन्या मछुआरिन कैसे बनी। मछुआरे की लड़की और शक्तिदेव की पत्नी बिंदुमती कहती है "सुनो मैं तुम्हें बताती हूं, मैं मछुआरिन कैसे बनी। मैं पिछले जन्म में वायु की कन्या थी लेकिन शाप के कारण मुझे धरती पर आना पड़ा। एक बार जबकि मैं आत्मा ही थी तो अपनी वीणा के तार बनाने के लिए मैंने स्नायु को दांत से काट कर तोड़ा, इसके कारण मुझे मछुए के घर जन्म लेना पड़ा। क्योंकि गाय के सूखे स्नायु से मेरा मुंह लग गया था इसलिए मुझे इतना नीचे गिरना पड़ा, जो गाय का मांस खाते हैं उनके भाग्य में क्या बदा होगा!" आजकल धातु के तारों ने पशुओं की आंत और घास के तारों को एकदम बेदखल कर दिया है। यह विशेष रूप से उन वाद्यों में है जिनमें तार को ऊंगलियों से हटा कर अथवा एक से दूसरे किनारे बजाया जाता है जैसे सितार और वीणा में, लेकिन गज से बजाए जाने वाले सारंगी जैसे वाद्यों में अभी भी पशुओं के स्नायु की प्राथमिकता बनी हुयी है।

अब वीणा के विषय पर फिर लौटें, प्राचीन संगीत एवं संगीतशास्त्र उनमें से दो पर अधिक बल देते हैं, एक हैं सात तारों वाली और दूसरी नौ तारों वाली वीणा।

इनके क्षेत्रीय तथा संरचना के अनुसार भिन्न प्रकार हो सकते हैं क्योंकि हमें नामों और वाद्यों का एक मिला जुला रूप प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ सात तारों वाली वीणा के एक से अधिक नाम हैं, चित्रा, परिवादिनी और सप्ततंत्री वीणा। इनके विषय में विस्तृत जानकारी के अभाव में यह कहना कठिन है कि तारों की संख्या के अतिरिक्त इनमें कोई भिन्नताएं हैं अथवा यह एक ही वाद्य है जिसके नाम अलग अलग हैं। चित्रा सर्वाधिक ज्ञात है और रामायण में अनेक स्थानों पर उसका उल्लेख हुआ है, नौ तारों वाली वीणा विपंची जो चित्रा से तारों की अधिक संख्या के अतिरिक्त और तरह से भी भिन्न थी। सप्ततंत्री वीणा ऊंगलियों से तार खींच कर बजायी जाती थी जबकि नौ तारों वाली वीणा लकड़ी के एक छोटे टुकड़े–कोण द्वारा बजायी जाती थी। चित्रा की ही तरह विपंची का उल्लेख भी महाकाव्यों में मिलता है।

यद्यपि अपने प्रारंभिक स्वरूप में वीणा धनुष के आर पार खिंचे एक तार से ही बनी थी लेकिन अपने विकसित स्वरूप में इसमें एक स्वरपेटी लगी थी और धनुष के आकार के अथवा सीधे दंड पर तार लगे होते थे। एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य यह



37. प्राचीन सप्ततंत्री वीणा

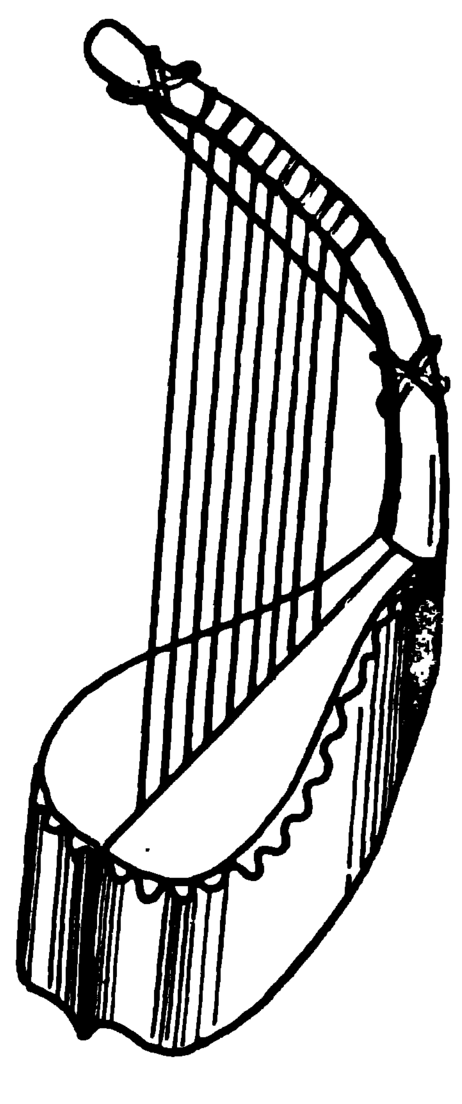
है कि भारत में मिलने वाली किसी भी वीणा में खूंटी नहीं लगी होती। स्वरपेटी से निकलने वाले धातु के तार अथवा तांत चमड़े के एक पट्टे से बंधे रहते हैं, जो तार के दंड पर कस कर लिपटा रहता है। चमड़े की यह पट्टी दंड पर ऊपर-नीचे की जा सकती है, जिससे तारों पर खिंचाव बदलता है और यों तार की आवृति बदलती है। यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि यह क्रिया बहुत कुशलता से की गयी है क्योंकि तार मिलाने की अतिशय संवेदनशील तथा जटिल पद्धति प्राचीन संगीत में चलन में थी और यह लगभग पूरी तरह वीणा पर ही निर्भर करती है। स्वरपेटी या ध्वनि विस्तारक तुंबा की रही होगी जो कालांतर में नौकाकार लकड़ी का कटोरा जैसा बन गया, जो पूर्ण या आंशिक रूप से खाल या काष्ठफलक से ढका होता है, यह अम्भाना या दोनी कहलाता है। इसमें से निकलता हुआ सीधा या झुका हुआ दंड होता है, जिसके ऊपर अभी वर्णन किये ढंग से तार कसे होते हैं। आदि वीणा की एक संभावित पुनर्रचना यहां दी जा रही है। (37)

ऋग्वेद में प्रभु निर्मित वीणा—मनुष्य और मनुष्य द्वारा निर्मित वीणा में सुंदर तुलना की गयी है, "प्रभु निर्मित वीणा में जैसे सिर, उदर, जीभ, ऊतक, वाणी, स्पर्श और त्वचा है वैसे ही काष्ठ वीणा में भी ये सब अंग होते हैं। तुंबा वीणा का सिर है, अम्भाना का खोखला हिस्सा उदर है, वादन उसकी जीभ है, तार उसके स्नायु हैं, संगीत उसकी वाणी है और जैसे मानव देह चर्म से ढकी है ऐसे ही वीणा भी।"

इस पुस्तक के आरंभ में हमने अपनी सभ्यता के आर्य तथा अनार्य सामाजिक-सांस्कृतिक आधारों की चर्चा की है। अभी तक यह धारणा रही है कि द्रविड़ (और स्वाभाविक रूप से द्रविड़ों से पहले भी) आर्यों से भिन्न थे और बाद में दोनों संस्कृतियां मिल गयीं। हालांकि ऐसे भी अनेक अंतर्दृष्टि युक्त विद्वान हुए हैं, जिनकी मान्यता है कि ऐसी सांस्कृतिक जटिलताओं का कोई अस्तित्व नहीं है और भारत के निवासी एक ही थे। सांस्कृतिक योगदान का प्रश्न और भी जटिल हो जाता है जब हम धरती के संगीत की बात करते हैं क्योंकि तब हमारे सामने अज्ञान का और भी धुंधलका होता है। जब तक आदि ग्रंथ लिखे गये और एक साफ तस्वीर बनी तब तक जीवन शैलियां आपस में ऐसी घुल मिल गयीं कि उन्हें अलग करके देखना संभव न हो सका हालांकि आधारगत भिन्नताएं हम आज भी खोज सकते हैं। यह न केवल अंतर्देशीय था बल्कि अंतर्राष्ट्रीय भी था क्योंकि जो वाद्य हैं उनमें से कुछ द्रविड़ों को मिस्र, अरब और यूनान जैसे सुदूर देशों से प्राप्त हुए थे। इन जटिल बातों को दरकिनार कर और मन में इन मान्यताओं को रख कर हमें प्राचीन तमिल साहित्य का अध्ययन करना होगा ताकि उस संगीत शैली के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त हो सके जो आर्यों से भिन्न थी। इसमें मुख्य रूप से वर्णित तार वाद्य यड़ है। किंतु क्या यह पूर्व वर्णित बहुतंत्री आर्य वीणा से, जो इसके समकालीन थी, कुछ भिन्न था ? कुछ साहित्यिक उदाहरणों में यड और वीणा का

प्रयोग एक ही तरह और एक से संदर्भ में हुआ है। इसने कुछ विद्वानों को यह सोचने के लिए प्रेरित किया कि यड़ और वीणा दो भिन्न वाद्य यंत्र हैं। दूसरी ओर यड़ को ही वीणाई भी कहा गया है। उदाहरण के लिए मकर यड़ के लिए मकर वीणाई शब्द का प्रयोग भी हुआ है और यह हमको फिर वैसी ही अनिर्णित स्थिति में छोड़ देती है जहां हम प्राचीन तमिल वाद्यों के आर्यपन या अन्य स्वरूप के विषय में कुछ फैसला करने योग्य नहीं रहते। यह संशय और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि वीणा और यड़ के संरचनात्मक वर्णन लगभग एक जैसे हैं। सांस्कृतिक पहलू को एक ओर छोड़ कर भी अनेक विद्वानों ने पट्टु-पट्टु, सिलमदिकार, मणिइमेकलार, जीवकचिंतामणि जैसे प्राचीन ग्रंथों का तथा पुरातात्विक प्रमाणों का अध्ययन किया और इन यड़ों का विस्तृत वर्णन हमें उपलब्ध हुआ। (38)

बहुत संभव है कि विल यड़ इन नरांपु करूवियों में से पहला ही हो। एक प्राचीन लेखक कन्नर एक शिकारी का वर्णन करते हैं जिसने कुमिड़ के पेड़ की खोखली शाखा से एक धनुष बनाया, पटुवे की डोरी से बांधा और इस विल यड़ को बजा कर कुनूरिंजी पन्न गाता हुआ प्रसन्नतापूर्वक घूमने लगा (पन्न राग की तरह मधुर संगीत होता है)। इसके बाद अधिक नरंपु अथवा तांत वाली अन्य वीणाओं का आविष्कार हुआ। सेनकोट्टी यड़ में एक स्वर पेटी भी लगी होती है जो आमतौर पर काष्ठफलक से ढकी होती है और इसका कोटु (जो दंड जैसा होता है) मुड़ा हुआ न होकर एक सीधी नली की भांति प्रतीत होता है। इसमें सत्रह तंत्रियां होती हैं, सकोटा यड़ में चौदह तंत्रियां होती हैं, जिसमें चार मंद्र सप्तक में होती हैं, सात मध्यम में और तीन पंचम में। पेरी यड़ विशाल आकार की वीणा प्रतीत होती है, जिसमें नौकाकार पट्टा होता था (अम्भाना की तरह) अथवा चमड़े से ढकी एक स्वरपेटिका और इक्कीस तंत्रियां होती थीं। सीरी यड़ पेरी यड़ का ही एक छोटा रूप प्रतीत होता है। मकर यड़ अथवा मकर वीणाई में उन्नीस नरंपु होते हैं। यह राजसी लोगों का वाद्य था जो उनके महलों और राजनिवासों में बजाया जाता था। तमिल लेखकों ने इसका वर्णन स्वयं अवनक्की वीणाई के रूप में किया है जिसका अर्थ है यवनों का वाद्य जिन्हें आमतौर पर यूनानी समझा जाता था। तो भी यह बहुत संभव है, जैसाकि भारत के अन्य भागों में समझा



38. यड़

गया इसका आशय किसी विदेशी नाम से ही हो। यह ध्यान देने योग्य है कि यूनानी वीणा भी इससे मिलते-जुलते नाम की है–मगाणी, जिसे यूनानी एक कोमल और प्राचीन वाद्य यंत्र मानते हैं। ईसा से पूर्व छठी शताब्दी के कवि एनाक्रियन ने अपने एक गीत में कहा है–

ओ गोरी, मैं छेड़ता हूं मधुर साज
बीस हैं साज के तार
और तुम हो अपने पूरे शबाब पर !

फिर भी यह याद रखने योग्य है कि यूनानियों का अपना वाद्य शायद ही कोई था और जो उनके पास थे उनमें से ज्यादातर अपने देश के बाहर से आयात किये गए थे। मगाणी संभवतः मेसोपोटामिया अथवा ईरान से वहां पहुंचा और वीणा आमतौर पर पूर्व से वहां पहुंची। प्लेटो ने श्रवण आनंद देने के साधनों के रूप में उनकी निंदा भी की है। मकर यड़ भी तब संभव है कि पश्चिम एशिया से सीधे दक्षिण पहुंचा हो अथवा उस क्षेत्र में यूनान हो कर पहुंचा हो। मकर वीणा 10वीं शताब्दी से काफी पहले ही इंडोनेशिया पहुंच गयी थी क्योंकि पूर्वी जावा के जलातुंड अवशेषों में एक मकर वीणा दिखायी है जिसमें एक स्वरपेटिका है। जिसका मुख मकर (मगर) जैसा है। इंडोनेशिया में भी यह वीणा केवल शासक जाति से संबंधित प्रतीत होती है और निम्न वर्ग में यह कभी प्रचलित नहीं हो सकी। तमिलनाडु में भी आदि यड़–पहला यड़ मिलता है। किंवदंति है कि प्रथम युग कृत युग में जो कि विश्व का प्रथम युग था, इसको राक्षसों अथवा दुरात्माओं पर विजय के लिए बजाया जाता है। इसमें पांच सप्तकों में हजार तार लगे कहे जाते थे, प्रत्येक सप्तक में दो सौ। यह कहां तक एक वास्तविक वाद्य है और यह एक हजार की बात अतिश्योक्ति है या नहीं यह हम नहीं जानते। संभवतः यह आदि यड़ पेरुम कालम जैसा ही था। यड़ निश्चित रूप से उन दिनों का बहुत लोकप्रिय और महत्वपूर्ण वाद्य था, जो आजकल प्रचलित सितार जैसा था जैसाकि तमिल साहित्य के असंख्य उद्धरणों से इसकी पुष्टि होती है। सिलप्पादिकारम के कनलवारि (समुद्रतल के गीत) अध्याय का प्रारंभ नायक कोवलन और नगरवधू माधवी के मिलन से होता है, "अपने हाथों से पूजन कर कसीदा किये खोल से अपने पट्टर, कोटु तथा तारों में दोषों से मुक्त यड़ को निकाला जो पुष्पों से सुसज्जित ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो काजल आंजे काले नयनों वाली रूपसी नववधू हो और उसने इसके आठ अलग अलग सुर, उनकी उपयुक्तता के बारे में खुद को आश्वस्त करते हुए निकालने आरंभ किये। उसकी चमकीली छोटी छोटी ऊंगलियां माणिक की अंगूठियों से सुशोभित थीं और तारों को छेड़ना ऐसा प्रतीत हुआ जैसे अलिवृंद गुंजन कर रहे हों। फिर उसने अपने कानों से सातों सुर पहचाने और कोवलन के बढ़े हुए हाथ में यंत्र को देकर बोली, 'यह मेरे बस की चीज नहीं। कृपया मुझे इसकी ताल समझाइए।" उसने भी कावेरी नदी की स्तुति और माधवी

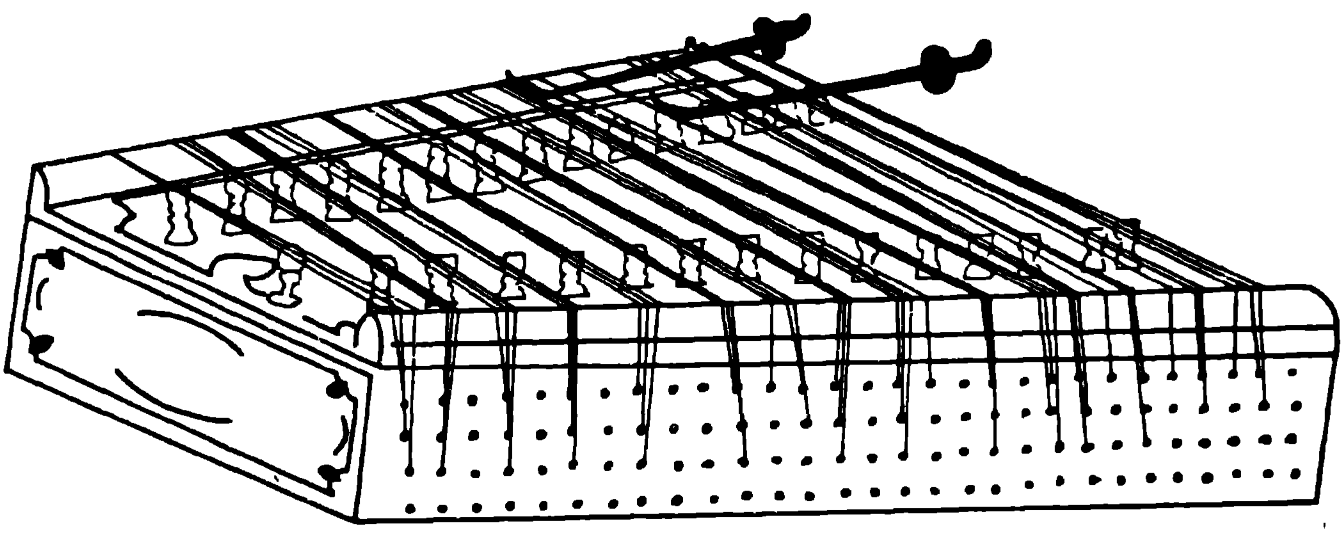
को मोहित करने के लिए सागरतट (कनलवारि) के अनुकूल गीत गाने आरंभ किये।

बोधगया तथा बारहट के कुछ प्राचीन स्मारकों में चित्रित कुछ वीणाओं में पांच तार दिखाए गए हैं। तथापि आमतौर पर सात तार होते थे जैसे कि अजंता के निकट पिटलखोरा की मूर्तियों एवं नक्काशी में दिखाया गया है (तीसरी शताब्दी ई. पू.), मध्यप्रदेश में सांची (दूसरी शताब्दी ई. पू.), आंध्रप्रदेश में अमरावती तथा नागार्जुनकौंडा में तीसरी शताब्दी में। यह आश्चर्यजनक है कि कर्नाटक में आदिकाल से आरंभ होकर कभी भी वीणा की किसी किस्म का चलन नहीं रहा तो भी पुरातात्विक अवशेषों में महाराष्ट्र और आंध्रप्रदेश के निकटवर्ती भाग तथा तमिलनाडु के कुछ हिस्सों में भी ये देखने को मिले हैं। एक और रोचक उदाहरण सिक्कों पर **वीणा** का अंकन है, जिनमें समुद्रगुप्त के सिक्कों के बारे में सर्वाधिक जानकारी है। प्रसिद्ध इतिहासकार मजूमदार इसका वर्णन इस तरह करते हैं, "शासक और सेनानायक दोनों ही रूपों में कुशल समुद्रगुप्त में दिल-दिमाग के भी कई गुण थे जो शांतिपूर्ण जीवन के अधिक अनुकूल होते हैं। इलाहाबाद के एक शिलालेख के अनुसार शिक्षा का एक बड़ा संरक्षक होने के अतिरिक्त वह स्वयं एक महान कवि और संगीतज्ञ भी था। उसकी वे कविताएं जिन्होंने उसे 'कवि सम्राट' की उपाधि से विभूषित कराया था, शेष नहीं रहीं किंतु संगीत के प्रति उसके प्रेम का प्रमाण हमारे पास है। सोने के कुछ सिक्कों पर महान सम्राट को एक आसन पर पैर पर पैर रख कर वीणा बजाते दिखाया गया है जो उसके घुटनों पर रखी हुयी है। इस अनन्य सिक्के पर अंकित यह राजसी छवि निश्चित रूप से जीवन से ली गयी एक सच्ची छवि है और संगीत के प्रति उसके असाधारण प्रेम का एक प्रमाण है।" अब तक इंगित किये अधिकांश स्थापत्य बौद्ध परंपरा के हैं जो पुनः यों महत्वपूर्ण हो उठते हैं कि संभवतयाः बौद्ध भिक्षुओं, बौद्ध राजाओं की सेनाओं और व्यापारियों के साथ ये वाद्य उत्तर से दक्षिण भारत पहुंचे हों। इन दृश्यों में से अधिकांश बोद्धिसत्व के एक या अनेक जन्मों को प्रदर्शित करते हैं। ज्ञान की खोज में मध्य रात्रि को महल छोड़ कर गौतम बुद्ध का प्रयाण चित्रित करना कलाकारों का प्रिय विषय है। उदाहरण के तौर पर नागार्जुनकोंडा की नक्काशियों में इस घटना को बहुत शिद्दत से चित्रित किया गया है। गौतम के प्रयाण के समय संगीतकार और नर्तक बहुत थके हुए और गहन निद्रा में हैं। वीणा, तबले और बासुंरी जमीन पर यों ही नारियों की गोद में पड़े हैं जो ऐसी उनींदी हैं कि उनका जाना नहीं देख पातीं।

अब तक वर्णित वीणा बहुतंत्री वर्ग की हैं जो धनुष या मेहराब के आकार की थीं जिनमें एक स्वरपेटी तथा एक भुजा (दंड) होती थी। एक और भी प्रकार है जिसे हम पेटी प्रकार कह सकते हैं, इसमें स्वरपेटी के अतिरिक्त किसी प्रकार का दंड नहीं होता। तार लकड़ी की एक पेटी पर खिंचे रहते हैं, जो उनके लिए आधार और स्वरपेटी दोनों की तरह काम आती है। भारत में आजकल इस प्रकार के दो वाद्य पाये जाते

हैं : संतूर तथा स्वर मंडल।

संतूर कश्मीर घाटी का खास वाद्य है जो अन्यत्र कहीं बजाया नहीं जाता। पश्चिम में उसे डलसिमर अथवा सिंबेलन के नाम से जाना जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस वाद्य की उत्पत्ति वैदिक वन वीणा से मानी जाती है। यह स्मरण रहे कि वन वीणा में (मूंज के) सौ तार होते थे और उसे शायद डंडियों से बजाया जाता था।



39. संतूर

इसी को बाद में शततंत्री वीणा कहा गया अर्थात् सौ तारों वाली वीणा। कहते हैं कि बाद में यही नाम बदल कर संतूर हो गया। शब्द-व्युत्पत्ति के अतिरिक्त भी आधुनिक संतूर में काफी अधिक तार होते हैं, जो डंडियों से बजाये जाते हैं। वाद्य लकड़ी का एक चतुर्भुज आकार का बक्सा होता है, इसके ऊपर दो-दो मेरु की पंद्रह पंक्तियां होती हैं। एक सुर में मिलाए गए धातु के चार तार एक जोड़ी मेरु के ऊपर लगे होते हैं, इस प्रकार तारों की कुल संख्या साठ होती है। संगीतकार संतूर को सामने रख कर बैठते हैं और आगे से मुड़ी लकड़ी की दो डंडियों से इसे बजाते हैं। कश्मीरी संगीतकार प्रायः मकम बजाते हैं जो डलसिमर पर फारसी वादन शैली जैसा प्रतीत होता है। इसका प्रयोग भारतीय राग बजाने के लिए भी किया जाता है। फिल्म संगीतकारों के बीच आजकल इसकी बहुत मांग है। (39)

दूसरी बहुतंत्री स्वरपेटी जो हमारे देश में पायी जाती है वह है स्वरमंडल। संतूर की तरह यह भी लकड़ी की एक पेटी होती है जिसके ऊपर तार कसे रहते हैं। नाप में यह अपने बंधु बांधवों से अपेक्षाकृत छोटा होता है और इसमें मेरु नहीं होते। एक सुर के लिए केवल एक तार होता है जबकि संतूर में एक सुर के लिए चार तार होते हैं। मेरु की जगह इसमें तारों को साधने के लिए मुंडेरें होती हैं। इन्हें ऊंगलियों में मिजराब पहन कर छेड़ा जाता है। आजकल इस वाद्य पर राग या सरल धुन बजाने वाले तीन-चार ही कलाकार होंगे लेकिन ऐसे बहुत से हिंदुस्तानी गायक हैं, जो अपने

गायन का प्रभाव बढ़ाने के लिए इस वाद्य का प्रयोग करते हैं। यह वाद्य प्राचीन मत्तकोकिला ही प्रतीत होती है जिसे बाद में स्वरमंडल कहा जाने लगा। स्वरमंडल का उल्लेख 15वीं शताब्दी के उपरांत प्रारंभ होता है और परवर्ती कवियों ने प्रायः इसकी चर्चा की है, यही आइन-ए-अकबरी में भी है। पश्चिम एशिया में बहुतंत्री कानून नाम से जाना गया और 11वीं शताब्दी में सीरिया में इसे किथोरो कहा गया। वास्तव में आइन-ए-अकबरी में स्पष्ट कहा गया है कि स्वरमंडल कानून जैसा ही है, "स्वरमंडल कानून जैसा है इसमें इक्कीस तंत्रियां होती हैं, कुछ लोहे की, कुछ पीतल की और कुछ तांत की।"

प्रागैतिहासिक काल से 10वीं शताब्दी तक लगभग तीन हजार वर्ष तक राज करने पर भारतीय परिदृश्य से बहुतंत्री अदृश्य हो गयी, सिवाय संतूर तथा स्वरमंडल के। एकतंत्री अथवा दंड पर ऊंगली संचालन वाले वाद्य जैसे कच्छपी, रबाब, सरोद, सितार, कर्नाटक (सरस्वती) वीणा जोकि वीणाएं हैं और किन्नरी तथा रुद्र-वीणा जैसे वाद्य ने उनका स्थान लिया और संगीत के क्षेत्र में अपना साम्राज्य स्थापित किया। एक पूरी संगीत परंपरा और संगीत शास्त्र को पीछे छोड़ कर जोकि प्राचीन वीणाओं पर आधारित था, ऊंगलियों से बजायी जाने वाली वीणाओं पर आधारित संगीत की नयी शैली ने उनका स्थान ले लिया। हमारे संगीत के इतिहास में यह घटना एक नयी क्रांति की तरह का परिवर्तन था, जो वाद्य यंत्रों के विकास से संबंधित है। यह विषय काफी रोचक होते हुए भी इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर है।

जब हम संगीतशास्त्र तथा अन्य साहित्य का अवलोकन करते हैं तो सूचनाओं में कमी, अपर्याप्त वर्णन और आधार की विश्वसनीयता की पुरानी समस्या सामने आती है। ऐसी स्थिति में कोई अधूरी कड़ियों अथवा मुद्दों के विषय में केवल अनुमान के आधार पर परामर्श भर ही दे सकता है या वाद्यों के विकास के संबंध में ज्ञात तथ्यों के अनुसार स्थिति के अनुकूल कोई अंदाज ही लगा सकता है। अवनद्ध और तत-वाद्यों जैसी भ्रामक स्थिति हो ही नहीं सकती, जैसाकि पहले भी ध्यान में आया हो कि तत-वाद्य के नाम भी बिना भेद के प्रयुक्त हुए हैं और वर्णन आपस में मिल जुल गए हैं। वीणाएं एकतंत्री, दो तार वाली नकुली, तीन तार वाली त्रितंत्री आदि लेकिन प्रायः हमारे पास यह जानने का कोई उपाय नहीं है कि यह वीणा, सरोद अथवा सितार है। अनुवादकों ने (विशेषकर अंग्रेजी में अनुवाद करते समय) तत-वाद्यों की तीनों किस्मों में कोई अंतर नहीं किया। इसलिए अधिकांश मामलों में जो तत-वाद्यों की किस्मों के विषय में हैं, मौन ही रहना पड़ता है।

सितार वह वाद्य है जिसमें तार दंड पर लगे होते हैं, पर्दे के साथ या पर्दे के बिना और सबसे खास बात यह है कि स्वरपेटी इसके नीचे लगी रहती है।

गिंटांग और उससे मिलते जुलते वाद्यों में सर्वप्रथम ज्ञातव्य सितार ही है, यद्यपि इसमें न स्वरपेटी होती है न पर्दे। इस आदि वाद्य से ही, जिसे प्रायः बांस सितार

कहा जाता है और जिसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है, यह संभव है कि सब विकसित सितार इसी से विकसित हुए हों। इस संरचनात्मक परिकल्पना पर पुनर्विचार करने की यहां आवश्यकता नहीं है, इस समस्या को विस्तार से समझने के लिए पाठकों को इस विषय पर अधिक तकनीकी साहित्य देखना होगा।

इस वर्ग का सबसे सादा वाद्य उड़ीसा का **तुइला** है। यह भी बहुत तेजी से लुप्त होता जा रहा है और वास्तव में इसके वादक भी बहुत ही कम बचे हैं। इस वाद्य में बांस की एक नली पर एक तांत कसी रहती है इसमें न मेरु होता है न मुंडेर और दूसरी ओर कोई खूंटी भी नहीं होती। तुइला की ऊपरी ओर दंड के नीचे आधी कटी लौकी लगी होती है, यह वाद्य वादक के शरीर के समलंब स्थिति में रहता है तथा सूखे फल का यह खोल वादक के वक्ष के पास रहता है। एक हाथ से तांत को खींचा जाता है। तुइला की विशेषता यह है कि तांत पर वादक की केवल तीन ऊंगलियां संचालित होती हैं और बिना ऊपर या नीचे किये सातों सुर निकालने में समर्थ होती हैं। (40)

उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि तुइला संभवत, प्राचीन अलापिनी वीणा का ही एक प्रकार है जिसमें दंड लगभग नौ ऊंगल का तथा 20 सेंटीमीटर गोलाई का लगा होता है। इसमें पशु स्नायु, सूत्र अथवा रेशम की एक (और कुछ किस्मों में तीन) तंत्री लगी होती है।

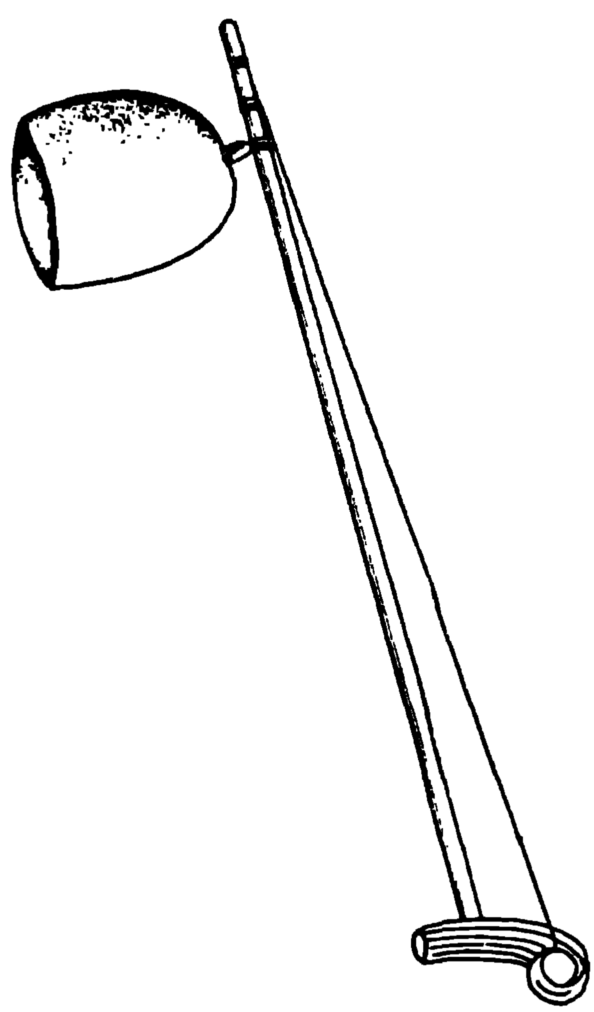
लेकिन पूर्व मध्यकाल की बहुत महत्वपूर्ण वीणा है, एकतंत्री जिसे एकतारा नहीं समझा जाना चाहिए, यद्यपि दोनों के नाम का अर्थ एक है–एक तार वाले वाद्य। एकतंत्री वीणा का वर्णन लगभग 11वीं शताब्दी के पास मिलता है यद्यपि यह भी संभव है कि भरत के समय ज्ञात घोषक वीणा भी यही वाद्य रहा हो।

इस वाद्य को बहुत महत्व प्राप्त हुआ प्रतीत होता है क्योंकि इसे ब्रह्म वीणा भी कहा गया है। एक लेखक तो यहां तक कहते हैं कि देवी सरस्वती स्वयं इसके दंड में निवास करती हैं। यह दंड लंबाई में लगभग 140 सेंटीमीटर होता था और दंड के नीचे एक तुंबा लगाया जाता था। तुइला तथा अलापिनी की भांति यह वाद्य भी सीने के आसपास रखा जाता था। तांत से बनी तंत्री अथवा तार को एक हाथ से खींचा जाता था तथा दूसरे हाथ में बांस का एक कोमल टुकड़ा कर्मिका रहता था जिसे तंत्री के ऊपर दबाया और खिसकाया जाता था, एकतंत्री पर एक बड़ा मेरु तथा तांत के नीचे बांस का एक मुलायम टुकड़ा होता था, जो जीवा की तरह काम करता था। संगीतशास्त्र में इसकी वादन विधि का विशद वर्णन किया गया है कि दायें हाथ से तंत्री को खींचना और बायें हाथ से उसे खिसकाना तथा दोनों का समन्वय करना चाहिए। कुछ मुद्दे यहां हमारा ध्यानाकर्षित करते हैं। पहला–वादन की स्थिति, वीणा को शरीर के इधर से उधर तक रखने की स्थिति अब भी प्रचलित है जैसे रुद्र वीणा में; दूसरा–जीवा का भी प्रयोग जारी है जैसे तंबूरे में; तीसरा–कर्मिका को फिराने

की बात, जैसे उत्तर भारत में विचित्र वीणा और दक्षिण में गोट्टुवाद्यम में।

विचित्र वीणा भारतीय संगीतकारों द्वारा बजाया जाने वाला बिना पर्दों का सितार है। इसका दंड लगभग सवा मीटर लंबा होता है और इसमें दोनों ओर दो बड़े तुंबे लगे होते हैं। जैसे कि अन्य समकालीन वीणाओं में होता है, इसमें भी दंड के एक ओर विशाल मेरु होता है और दूसरी ओर तंत्रियां भी होती हैं जिन्हें चिकारी कहा जाता है और जो सुर देने को छेड़ी जाती हैं, मुख्य तार भी मिजराब पहनी ऊंगलियों से बजाए जाते हैं। राग बजाने के लिए कांच के एक गोले से उन्हें दबाया और छोड़ा जाता है जैसाकि एकतंत्री में कर्मिका से किया जाता है। मुख्य तारों के नीचे लगभग एक दर्जन या उससे अधिक तार लगे होते हैं जिन्हें तरब कहा जाता है, जो ठीक तरह से मिले होने पर मुख्य तारों के साथ बजते हुए अतिरिक्त झंकार उत्पन्न करते हैं। इसकी संरचना तथा पकड़ने के तरीके से यह स्पष्ट है कि यह वीणा एकतंत्री का ही एक परिवर्धित स्वरूप है। इसका वर्तमान नाम एक शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है, यद्यपि यह भी संभव है कि यही वाद्य सर वीणा रहा हो, आइन-ए-अकबरी में जिसको महत्वपूर्ण साजों में शुमार किया गया है। (41)

विचित्र वीणा समूह के वाद्य यंत्रों में पर्दे लगा कर एक अलग तरह के वाद्य हमें मिलते हैं, जिनमें किन्नरी तथा रुद्र वीणा बहुत प्रसिद्ध हैं। पहली मध्यकाल में संगीतकारों में बहुत लोकप्रिय थी और दूसरी हिंदुस्तानी संगीत पर अभी कुछ साल पहले तक राज कर रही थी। यह और अन्य प्रकार के पर्दे लगी वीणाएं सावरों के मेमेराजन जैसे प्राचीन वाद्यों से विकसित हुयी प्रतीत होती हैं। जैसाकि वर्रियर एल्विन ने वर्णन किया है, "गिटार से मिलता जुलता दूसरा वाद्य मेमेराजन या वक्षवाद्य है। चार से छह पर्दे लगे हुए बांस की ग्रीवा पर दूर-दूर लगे दो तार इसके ऊपर दबाए जाते हैं। पहला सुर निकालता है, दूसरा उसका अनुगमन करता है। उसके नीचे दो तुंबे, पैंदे कटे, लगे होते हैं जो बंद ओर से बांस की ग्रीवा से जुड़े होते हैं। मेमेराजन तुंबों के खुले सिरे को अपने शरीर की ओर रख कर पकड़ा जाता है, उन्हें इसके विपरीत दबाया और छोड़ा जाता है

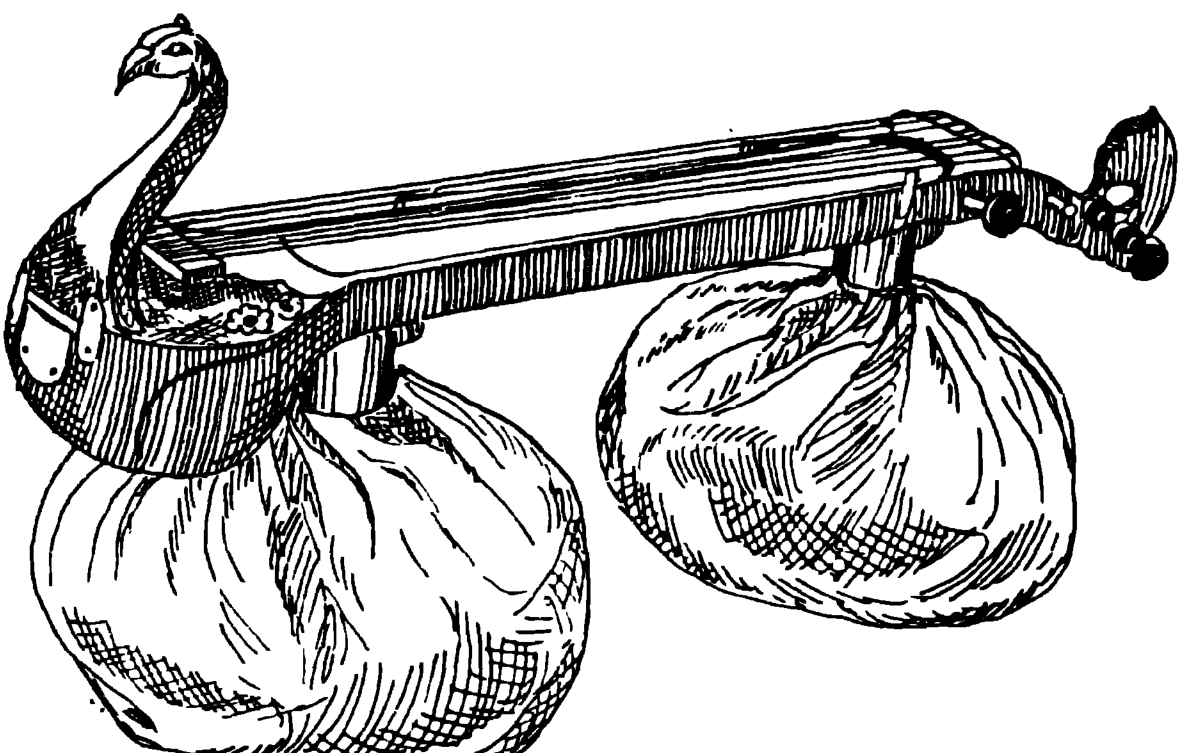


40. तुइला

जिससे ध्वनि को कम या अधिक किया जा सकता है। तार बायें हाथ से रोके

और दायें हाथ से छेड़े जाते हैं", (एल्विन ने 'गिटार' तथा 'ग्रीवा' शब्दों का प्रयोग किया है जो सही नहीं है क्योंकि 'गिटार' एक प्रकार का 'सितार' है और मेमेराजन 'वीणा'। मेमेराजन में कोई 'ग्रीवा' होती ही नहीं)। इसके अन्य निकटवर्ती वाद्यों में राजस्थान के भोपाओं द्वारा प्रयुक्त जंतर और कश्मीर का खिंग है। पहला दो तुंबे युक्त एक प्रकार का सितार है जिसके पर्दे अस्थि के होते हैं और गिनती में चौदह होते हैं। कश्मीरी वाद्य बहुत छोटा होता है और उसमें केवल सात पर्दे लगे होते हैं।

खूंटी वाली प्राचीन वीणाओं में से एक, किन्नरी, बहुत महत्वपूर्ण है। यद्यपि शास्त्रीय संगीत से यह अब लुप्तप्राय: हो गयी है लेकिन अब भी यह आंध्रप्रदेश के



41. विचित्र वीणा

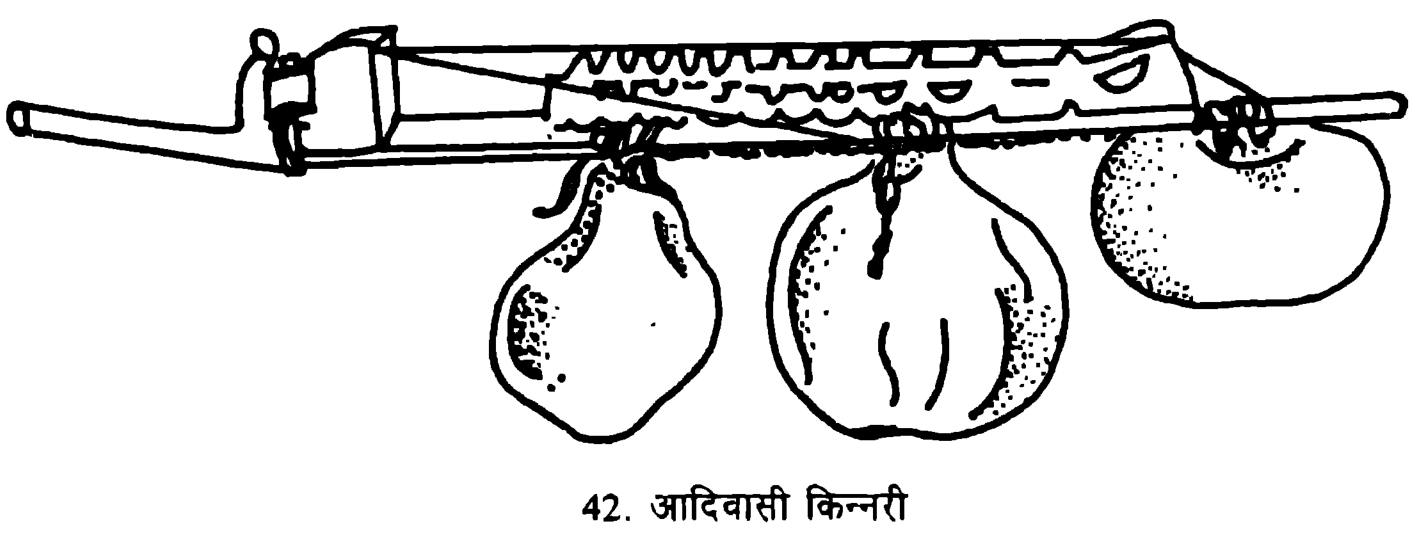
चेंचुओं तथा राजगोंडा जैसी कुछ आदिवासी जातियों में कभी कभी दिखायी दे जाती है। यह पूर्व वर्णित वृहत किन्नरी की पूर्ववर्ती अथवा वैसी ही प्रतीत होती है। अपने आदिवासी भगवान की खोज में गये एक आदिवासी गौंड लिंगल की एक मर्मस्पर्शी कहानी है, "रास्ता संकरा और पथरीला था और वह घने जंगल से गुजर रहा था, जब अंत में वह खुली जगह पर पहुंचा तो एक विशाल वटवृक्ष की छाया में विश्राम करने बैठ गया। अचानक उसे अलौकिक आनंद का अनुभव हुआ और अपनी किन्नरी के ऊपर उसने अठारह धुनें बजायीं। तभी धरती में गड़गड़ हुयी और उसने देखा कि उसके सामने ताड़ खजूर का एक पेड़ डोल रहा था। सुरसुरयादी गुफा में भगवान गौंड लिंगल की मधुर धुनों को सुनकर एक दूसरे से कहने लगे, "कैसा मधुर संगीत! यह तो हमारे कटोरा (भक्त) की धुनें प्रतीत होती हैं और पुहान्दी कूपा लिंगल बहुत आनन्दित हुआ कि अंततः भगवान उसे मिल ही गए", कर्नाटक का जोगी एक

धार्मिक संप्रदाय है जो स्वयं को महाभारत के वीर नायक अर्जुन का वंशज मानते हैं। जो संत का सा जीवन वे जीते हैं उसे वे अपने नायक के अज्ञातवास की जीवनशैली का अनुकरण कहते हैं। छोटी किन्नरी बजा कर वह अपने गीत गाते विचरते हैं। किन्नरी काफी लोकप्रिय रही होगी क्योंकि न केवल पुस्तकों में इसका विशद वर्णन उपलब्ध है बल्कि मध्यकालीन मूर्तियों में भी इसे चित्रित किया गया है। सर्वप्रथम किन्नरी के ज्ञात होने का काल 5 वीं शताब्दी के आसपास प्रतीत होता है। जब मतंग थे, उन्होंने संगीत पर एक पुस्तक लिखी–वृहदेशी। मतंग पहले व्यक्ति कहे जाते हैं जिन्होंने किन्नरी वीणा में पर्दे लगाने का वर्णन किया है, 11वीं शताब्दी के बाद से इस वाद्य का निश्चित एवं विस्तृत विवरण किया गया है। दो शास्त्रीय किन्नरियां थीं, लघु किन्नरी तथा वृहत किन्नरी। जैसाकि उनके नाम से ही स्पष्ट है कि एक छोटी (लघु) और एक बड़ी (वृहद) किस्म थी। देशी (लोक) किन्नरी भी तीन आकारों में होती थी, वृहती (बड़ी), मध्यम (बीच की) और लाघवी (छोटी))। शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त लघु किन्नरी में लगभग 75 सेंटीमीटर का दंड होता था जिसमें दो तुंबे लगे होते थे। पर्दे चौदह होते थे जो गिद्धों के सीने की अस्थियों के बने होते थे तथा मोम एवं कपड़े की राख से जोड़े जाते थे। इनके ऊपर लोहे एवं पीतल के तार लगे होते हैं, जिन्हें एक ओर लगी खूंटियों से कसा जाता है। वृहती इससे लगभग 30 सेंटीमीटर अधिक लंबी होती है। उसमें दो की जगह तीन तुंबे लगे होते हैं और तंत्रियां तांत की बनी होती हैं। आइन-ए-अकबरी में अबुल फजल ने किन्नरी, वीणा और जंत्र (यंत्र) के स्पष्ट संबंध का वर्णन किया है, वह कहते हैं,

"यंत्र गज भर लंबी खोखली लकड़ी की ग्रीवा का बना होता है जिसके दोनों सिरों पर आधे तुंबे लगे होते हैं। ग्रीवा के ऊपर सोलह पर्दे लगे होते हैं, जिनके ऊपर लगी लोहे की पांच तंत्रियां सुर और उनके विविध रूप पर्दों की स्थितियों को बदल कर उत्पन्न किये जाते हैं।

वीणा, यंत्र जैसी है लेकिन उसमें केवल तीन तंत्रियां होती हैं।

किन्नरी भी वीणा जैसी होती है लेकिन उसका दंड अधिक लंबा और तीन तुंबे तथा दो तार युक्त होता है।" (42)



42. आदिवासी किन्नरी

इसकी परवर्ती सभी वीणाएं केवल किन्नरी की ही वंशज हैं। इनमें सर्वाधिक लोकप्रिय है रुद्र वीणा जो अभी कुछ वर्ष पहले तक हिंदुस्तानी संगीत पर राज करती रही है और जन साधारण में भी लोकप्रिय रही है। इस वाद्य को आम बोलचाल की भाषा में बीन कहा जाता रहा है। किन्नरी की तरह इसका दंड चौड़े तथा कोमल बांस का बना होता है। इसके एक छोर के नीचे एक चपटा मेरु होता है जो हमारे वाद्यों की विशेषता है, इसके दंड के नीचे दो तुंबे लगे होते हैं। सुरों के लिए चार मुख्य तंत्रियां होती हैं, जिनके नीचे बांस के दंड पर मोम से जुड़े सीधे खड़े पतले चार पर्दे होते हैं। एक हाथ की ऊंगलियां जब तंत्रियों को छेड़ती हैं, दूसरा हाथ पर्दों के ऊपर उन्हें रोकता है। मुख्य तंत्रियों के अतिरिक्त दो सहायक तंत्रियां होती हैं तथा दंडों के दूसरी ओर भी एक तंत्री लगी होती है। बीन स्त्री और पुरुष दोनों के द्वारा राज दरबारों से गांवों तक प्रचलित थी जैसाकि उत्तर भारत के असंख्य चित्रों में दिखायी पड़ता है। ऐसे चित्रों के एक वर्ग में, जिसे राजमाला कहा जाता है और जिसमें राग-रागिनियां मानवीय रूपों में एवं साहित्यिक बिंबों में चित्रित हुयी हैं। बीन को रागिनी तोड़ी के साथ चित्रित किया गया है, वह वीणा बनाती है जिसका संगीत हिरनों को मोहित कर लेता है, "उसकी छरहरी देह केसर और कपूर की गंध में रची बसी है, वह जूही के फूलों की तरह चमकती हुयी श्वेतांगी है। वीणा से सुशोभित तोड़ी को देखते ही वन के मृग चित्रलिखित से खड़े रह गए।"

हिंदी के अमरकवि सूरदास तो इसे और भी आगे ले जाते हैं। अपने काव्य के नायक को संबोधित करते हुए वे कहते हैं, "कोमल वीणा को मत बजाओ क्योंकि चंद्रमा के रथ में जुते मृग मोहित होकर रुक जायेंगे और यों चंद्रमा को भी रोक देंगे।" अकबर के दरबार के मुख्य साजों में से यह एक था और अबुल फजल ने ग्वालियर के साहिब खान और पुरबीन खान का नाम दरबारी बीन कार (बीन-वादक) के रूप में लिया है। अन्य मुख्य संगीतकार जिनका नाम वाद्य संगीत के 'जनक' के रूप में लिया जाता है, वे हैं तानसेन के पुत्र बिलास खान और सूरत सेन तथा दामाद मिसरी सिंह। बिलास खान का नाम रबाब को लोकप्रिय बनाने वाले और शेष दो का नाम रुद्र वीणा को लोकप्रिय बनाने के रूप में लिया जाता है। अपने वंश वृक्ष (घराना) के कारण ये संगीतकार सेनिया नाम से जाने गए। हिंदुस्तानी संगीत का प्रायः प्रत्येक वाद्य कलाकार स्वयं को सेनिया कहलाना पसंद करता है। आज यह असंगत है क्योंकि सितार, सारंगी जैसे वाद्यों का तानसेन के समय में चलन ही नहीं था। अतः इनके संगीत में प्राचीन संगीत से समता करना उचित नहीं है। अगर आज के सितारियों (सितार-वादकों) का सितार वादन सुनें तो यह स्पष्ट हो सकता है कि उनमें जितना वैविध्य है वह किसी एक घराने की शैली में सीमित नहीं हो सकता। यद्यपि यह सच है कि गुरु शिष्य परंपरा के अनुसार सभी वादक कलाकार सेनिया पूर्वजों

के वंशज कहे भी जा सकते हैं किंतु संगीत की उनकी शैलियां एक दूसरे से इतनी अलग अलग विकसित हुयी हैं कि उन सबका 'सेनिया' होने का दावा करना एकदम निरर्थक है। रुद्र वीणा अवश्य ही दुखद उपेक्षा का शिकार हुयी है और अब इस वाद्य के कुशल वादक अधिक नहीं हैं। (43 : पुस्तक के मुखपृष्ठ पर बना चित्र)

इसमें कोई संदेह नहीं है कि एकतंत्री, अलापिनी और विचित्र वीणा जैसे पर्दे वाली वीणाएं हों अथवा किन्नरी एवं बीन जैसी बिना पर्दे की, दोनों ही पूर्णतः भारतीय हैं। यह भी बहुत महत्वपूर्ण बात है कि प्राचीन काल की मूर्तियों में वीणा का चित्रण आगे तक न बढ़कर हिंदू मंदिरों तक ही सीमित रह गया। एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि उत्तर-पश्चिम के गांधार कला आंदोलन के तुरंत बाद ही वीणा हमारे देश में प्रचलित हुई और बौद्ध मत के साथ दक्षिण की ओर प्रचारित हुयी। चूंकि दूसरी सभ्यताओं में भी वीणा पायी गयी है अतः यह केवल सुझाव है और सावधानी से इसकी छानबीन करने की आवश्यकता है।

जैसाकि हमने पहले परिभाषित किया है वीणा वह तंत्री वाद्य है जिसका दंड स्वरपेटी से निकला हुआ होता है। दूसरी ओर, यह स्मरण रहे कि सितार में स्वरपेटी दंडी के नीचे स्थित रहती है। यह भी देखा गया है कि एक तार वीणा आदि वाद्य के रूप में संभावित है जिसमें तुंबे के स्थान पर लकड़ी का कटोरा लगा होता था। विकास की इस दिशा का उदाहरण तंबूरों की दो किस्में हैं। यह वाद्य सुर या धुन निकालने के काम के नहीं होते बल्कि केवल सुर देने के काम आते हैं। वीणा की दो किस्मों को पहचानना बहुत सरल है, बड़ी ग्रीवा वाली और छोटी ग्रीवा वाली। पहली प्रकार में कटोरा एक जुड़ी हुयी ग्रीवा से निकलता है जो एक छोटे दंड के रूप में आगे निकलती है। दूसरी में स्वरपेटी में ही ग्रीवा रहती है, जो एक लंबे दंड के रूप में बढ़ी रहती है दोनों ही किस्मों में ग्रीवा का आकार लगभग बराबर होता है, अंतर दंड की लंबाई से होता है, ग्रीवा से जुड़े विशेषण इस प्रकार गलत हैं और दरअसल उन्हें दंड के साथ होना चाहिए–छोटा दंड अथवा बड़ा दंड फिर भी संगीत में प्रचलित शब्दों को देखते हुए हम परंपरागत शब्द ही प्रयोग करेंगे।

हमारे देश में बिना पर्दे की और छोटी गर्दन वाली वीणाएं बहुत पुरानी हैं और उनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध है, कच्छपी। यह नाम सबसे पहले भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है और बाद में मध्यकाल के अनेक ग्रंथों में इसके असंख्य उल्लेख हैं, इसको अनेक स्थानों पर चित्रित भी किया गया है। कच्छप का अर्थ है कछुआ और चूंकि इस वाद्य का आकार फूला हुआ इस जंतु की पीठ जैसा होता है इसलिए इस वीणा का नाम कच्छपी वीणा रखा गया है। इसके खोखले पेट पर चमढ़ा मढ़ा गया और उसका अंत ग्रीवा में हुआ जिससे जुड़ा हुआ कम लंबाई का दंड था। इसके ऊपर

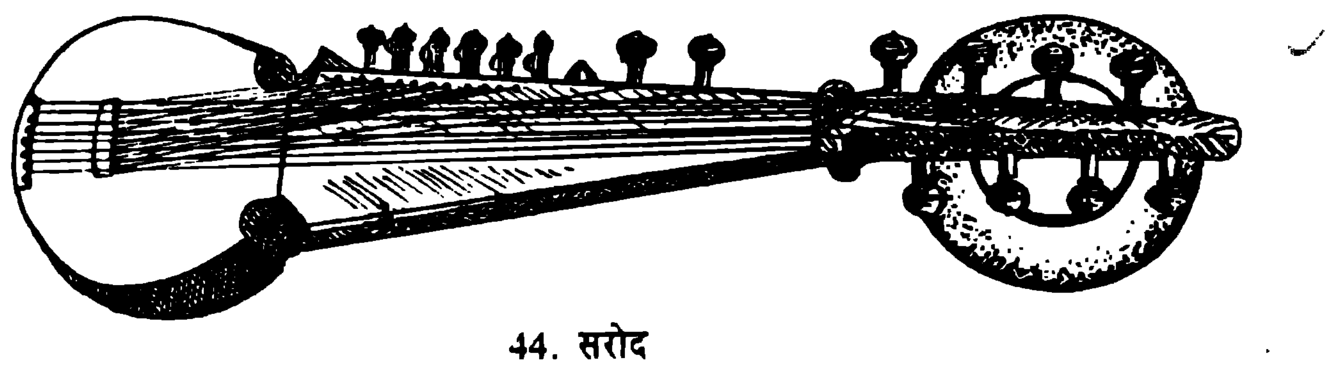
एक अर्धचंद्राकार मेरु लगा होता है जिस पर हो कर पांच तार दंड के दूसरे सिरे पर लगी खूंटी तक जाते हैं। यह बिना पर्दे वाली खींच कर बजायी जाने वाली वीणा है तथापि पर्दे युक्त वीणा के चित्र कर्नाटक में पट्टाकाल्लू तथा अजंता में प्राप्त होते हैं (5 से 7 ईस्वी सन्)। आज भी इस बिना पर्दे की और छोटी ग्रीवा वाली वीणा से मिलते जुलते वाद्य उत्तर भारत में दो तारा रुबइया आदि नामों से मिलते हैं, जबकि सूक्ष्म रूप से उनमें कुछ अंतर भी होते हैं।

इससे मिलता जुलता और संभवतः विकसित होने वाला वाद्य रबाब है, जो मुख्य तौर पर भारत के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र तक ही सीमित रह गया है। रबाब शब्द से संभवतः ऊंगलियों और गज दोनों प्रकार से बजायी जाने वाली वीणाओं का आभास होता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार प्रारंभिक अरबी संगीत में इसका अर्थ गज वाली किस्म है। अल फराबी-ए-अरब (10 वीं शताब्दी) इसका वर्णन गज वाले वाद्य के रूप में करते हैं। लेकिन कश्मीर और अफगानिस्तान की सुपरिचित इस नाम की वीणा तार को खींच कर बजायी जाती है जो भारत के उत्तरी भागों में पांच सौ वर्ष पूर्व से प्रचलित है। कबीर और कृष्णदास जैसे रहस्यवादी कवियों ने इसकी चर्चा की है। आइन-ए-अकबरी में रबाब का वर्णन 'तांत की छह तंत्री लेकिन कुछ में बारह या अठारह' वाले वाद्य के रूप में किया गया है। 17वीं शताब्दी के संगीत ग्रंथ 'संगीत पारिजात' में इस वाद्य का न केवल उल्लेख किया गया बल्कि रबाब शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शब्द रव से निकालने की कोशिश भी की है जिसका अर्थ है ध्वनि। मौखिक परंपरा के अनुसार इस प्रकार की वीणा के आविष्कार का श्रेय तानसेन को दिया जाता है जबकि यह सही नहीं है क्योंकि उससे पूर्ववर्ती हिंदी साहित्य में रबाब का उल्लेख मिलता है। रबाब का सबसे अधिक निकट संबंध गुरु नानक के शिष्य मरदाना से है जो 15वीं शताब्दी में हुए। भाई मरदाना अरबों के वंशज कहे जाते हैं और उनकी वीणा के शौर्य के किस्से बन गए। जो रबाब वह बजाते थे वह किसी पुरानी किस्म से स्वयं नानक द्वारा बनाया गया प्रतीत होता है। 19वीं शताब्दी के सादिक अली खान कहते हैं, "रबाब में पांच मुख्य तंत्रियां होती हैं और गूंज के लिए धातु की बनी बाईस तंत्रियां नीचे होती हैं। यह हमारे ध्यान में आया है कि छह तंत्रियों वाली एक और रबाब होती है लेकिन बकरी की तांत के बजाय यह रेशम की बनी होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह रबाब गुरु नानक शाह फकीर का आविष्कार है। गुरु को इस कला में महारत हासिल थी अतः यह उनकी प्रतिभा के कारण बना।" जब गुरु नानक गहन समाधि में बैठते, मरदाना रबाब बजाते और तारों से सुर निकालते "निरंकार धन निरंकार... ।"

कश्मीर में आजकल प्रचलित रबाब पोली लकड़ी का बना होता है। स्वरपेटी खाल से ढकी होती है और दंड में खूंटी लगी होती है। इस दंड पर एक पतला मेरु होता है जिसके ऊपर तांत की छह तंत्रियां होती हैं जो खूंटियों से कसी जाती हैं।

इनके अतिरिक्त धातु की ग्यारह तंत्रियां होती हैं, जो अनुगूंज का कार्य करती हैं, एक बात यह है कि इसमें वैसे तो पर्दे नहीं लगे होते लेकिन दंड के आर पार इसके दूर वाले सिरे के पास तीन तांत बंधी रहती हैं, जो सुरों की स्थिति की ओर इंगित करती हैं। बाद में वाद्यों में इसी प्रक्रिया को धातु के पर्दों के रूप में विकसित कर लिया गया होगा।

इससे बहुत कुछ मिलता जुलता सरोद है जो हिंदुस्तानी संगीत सभाओं की सबसे नफीस वीणा है। आजकल यह लगभग सारी दुनिया में जानी जाती है। प्रायः यह दावा किया जाता है कि यह नाम शारदा वीणा से निकला है, कल्पना के अतिरिक्त इसका अन्य कोई आधार दिखायी नहीं देता है क्योंकि भारतीय संगीत साहित्य में इस प्रकार की वीणा की कहीं कोई चर्चा नहीं है। "सन् 913 में समरकंद के इलाके से कोई इब्न-अल-अबास आया था जिसने असाधारण गोलाई का एक तार वाला साज बनाया जिसे शरुद कहा गया। प्राचीन भारतीय फारसी साहित्य में भी सरोद की चर्चा हुयी है। उत्तर मध्यकाल के एक हसन निजामी दिल्ली सुलतान के दरबार में एक गायिका का वर्णन करते हैं, "सुरीली कोकिल बेबस आशिक की तरह बिलखी और वह सरोद के संगीत और रुद के तारों पर एक आशिक की तरह रोया।" आगे भी एक "हसीन परी चेहरा फूलों सी महकती, दमकते रुखसारों वाली जिसने कोयल सा मीठा गाया और अपनी कूजती तानों से अलौकिक जादू कर दिया। रुद और सरोद के संगीत ने संयम तोड़ दिया और अपने मुसिकार (एक वाद्य) के झटकों से उसने ऊंचे आसमानों में उड़ते हुए परिंदों को नीचे जमीन तक खींच लिया!" रुद एक वाद्य था लेकिन सरोद के बारे में हम निश्चित नहीं हो सके कि यहां सरोद का अर्थ किसी प्रकार की वीणा से है अथवा वह कोई धुन है। आज भी मध्य एशिया में उद पायी जाती है जो छोटी ग्रीवा वाली एक किस्म की वीणा है। यह सब हमें सोचने को प्रेरित करता है कि संभवतः सरोद मध्य एशिया के इसी वाद्य से विकसित हुआ हो। इनमें न केवल संरचनात्मक साम्य है बल्कि शब्द का अंत (उद तथा सर-उद) भी ध्यान देने योग्य है। रबाब की तरह यह भी लकड़ी का बना होता है और कटिमय होता है, परंतु यह अपेक्षाकृत उथला होता है। दूसरा अंतर यह है कि दंड पर लकड़ी की बजाय धातु की पत्ती होती है। चार मुख्य तंत्रियां, चार सहायक, दो आधार के लिए और लगभग एक दर्जन अनुगूंज (तरब) के लिए होती हैं। ये सभी धातु के



44. सरोद

बने होते हैं। सरोद भी रबाब की तरह लकड़ी के एक छोटे-से टुकड़े जीवा से बजाया जाता है। (44)

इस वर्ग के दो वाद्य और हैं जिनकी संक्षेप में हम चर्चा करेंगे : पहला सुर सिंगार है जो सरोद के बड़े भाई जैसा है। यह आकार में लगभग दुगना होता है। दंड पर धातु की पत्ती लगी होती है और स्वरपेटी खोल की बजाय काष्ठफलक से आवृत होती है। यह कहा जाता है कि इसका आविष्कार जफ़र खान रबाबी ने किया जो 19वीं शताब्दी के आरंभ में बनारस के महाराजा उदित नारायण सिंह के दरबारी संगीतज्ञ थे। इसके आकार और रचना के कारण इस वीणा की तान बहुत मधुर थी लेकिन बड़े अफसोस की बात है कि यह वीणा कभी कभार ही सुनायी पड़ती है और अब इसे बजाने वाले दो-चार ही संगीतकार हैं।

इसका एक और विशेष उदाहरण स्वराबत या स्वरागत है। यह कच्छपी या और सही कहें तो रुबइया, दो तारा और रबाब का मिला जुला रूप है। देखने में यह रबाब जैसा होता है लेकिन उसकी अपेक्षा काफी बड़ा होता है। इसका दंड पतला होता है और दो तारा जैसा होता है। आश्चर्य है कि यह उत्तर भारत में नहीं पाया जाता जैसाकि हमें आशा थी लेकिन दूसरी ओर इसके ज्ञात उदाहरण दक्षिण में हैं। इसका एकमात्र विश्वसनीय उदाहरण संत त्यागराज के शिष्य उमइयालपुरम कृष्ण भगावतार का एक चित्र है जिसमें वह इसका वादन कर रहे हैं। इसके इक्के दुक्के नमूने ही उपलब्ध हैं इनमें से एक तमिलनाडु के पुडुकोट्टई के एक संग्रहालय में देखा जा सकता है।

लंबी ग्रीवा वाली वीणा हमारे देश में कैसे विकसित हुयीं यह अभी तक स्पष्ट नहीं है। मध्य भारत में आदि मानव की पाषाण गुफाएं हैं जिनके भित्तिचित्रों में से कुछ लंबी ग्रीवा वाली वीणा दिखायी देती हैं। लेकिन आमतौर पर अधिकांश दृश्यों में, कुछेक यहां वहां के चित्रों को छोड़कर, बड़ी ग्रीवा वाली नहीं बल्कि छोटी ग्रीवा वाली वीणाएं दिखायी देती हैं। निर्विवाद रूप से इनके इतिहास खोजने के लिए और अधिक प्रमाणित सामग्री की आवश्यकता होगी।

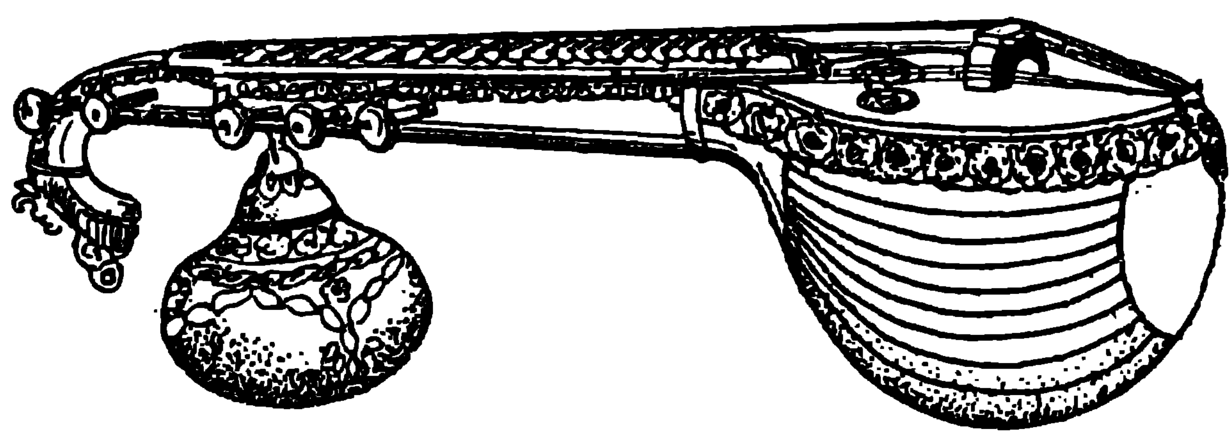
लंबी ग्रीवा की ज्ञातव्य बिना पर्दे वाली वीणा कर्नाटक संगीतकारों की गोट्टुवाद्यम है; इस वाद्य को कभी कभी महानाटक वीणा भी कहा जाता है। यहां फिर ऐतिहासिक सूचनाएं अपर्याप्त हैं और पूर्ण संभावना है कि इसका सर्वप्रथम उल्लेख 17वीं शताब्दी के एक तेलुगु ग्रंथ में मिलता है। यह वाद्य स्वयं में बहुत सादा है किंतु इसका वादन कठिन है। लकड़ी का एक 'वृत्ताकार' कटोरा जो ऊपर से काष्ठफलक से ढका होता है स्वरपेटी का काम करता है। इस कटोरे से एक छोटी-सी ग्रीवा निकलती है जो बिना पर्दे वाले दंड से जुड़ी होती हैं, इसकी आकृति यलि नामक पशु से मिलती है। इसके सिरे की ओर चार खूंटियां होती हैं जिन पर धातु के तार लगे होते हैं, जो स्वरपेटी के ऊपर स्थित मेरु पर से गुजर कर आते हैं। इन चार मुख्य तंत्रियों के

अतिरिक्त जिन पर राग बजाए जाते हैं, एक ओर लगी तीन तंत्रियां होती हैं, जो सुर तथा ताल देने के काम आती हैं। सबसे दिलचस्प बात वाद्य पर तरब अथवा अनुगूंज वाली तंत्रियों की उपस्थिति है। इस प्रकार की व्यवस्था वाला यह एकमात्र कर्नाटक वाद्य है जो संभवतः नयी खोज मालूम पड़ती है क्योंकि वादक कलाकारों को इसका नाम तक ज्ञात नहीं है। तारों को ऐसे ही खींचा जाता है जैसे आगे वर्णित वीणा में किया जाता है। धुन या राग बजाने के लिए एक लकड़ी का आयताकार छोटा सा टुकड़ा लिया जाता है जिसे तंत्रियों पर फिरा कर सुर निकाले जाते हैं और थोड़ा दबाने से गमक पैदा की जाती है। इस टुकड़े को कोडु कहते हैं और इस वाद्य का नाम इसी से उद्भूत मालूम होता है। हम पहले पढ़ चुके हैं कि ठीक यही तरीका प्राचीन एकतंत्री को बजाने का भी था और ह्वाइन गिटार भी इसी से मिलता जुलता है। चूंकि इसमें कोई पर्दा नहीं होता और तंत्रियां दंड से कुछ उठी रहती हैं इस कारण इसके वादन का तरीका कठिन और महीन होता है।

सब वीणाओं की साम्राज्ञी है सरस्वती वीणा (संयोग से हिंदुस्तानी संगीतज्ञ भी अपनी वीणा को जिसका वर्णन अब तक किया गया है इसी नाम से जानते हैं। तथापि हम दक्षिण भारतीय वीणा को ही सरस्वती वीणा कहेंगे और उत्तर भारत की वीणा को रुद्रवीणा)। इसकी वादन क्षमता से ही इसे यह शीर्ष स्थान प्राप्त हुआ है जो न केवल दृश्य सौंदर्य बल्कि सुरों के अपने वैविध्य के कारण है। एक तरह से केवल यही एकमात्र सर्व समर्थ वीणा है, इसमें राग बजाने के लिए तंत्रियां हैं और वे भी सुरों के विस्तृत वैविध्य में, इसमें भारतीय संगीत के अनुरूप तंत्रियां ऐसे लगायी गयी हैं कि उन पर ताल देना भी संभव हो सकता है। दूसरे शब्दों में वीणा में स्वर, राग और ताल तीनों हैं–ऐसी क्षमता किसी अन्य वाद्य में नहीं है। वीणा का वर्तमान स्वरूप 17वीं शताब्दी में तमिलनाडु में तंजावुर में रघुनाथ के शासनकाल में बना प्रतीत होता है। इसलिए इसे तंजावुर वीणा भी कहते हैं। गोट्टुवाद्यम की तरह यह वाद्य भी पूरे तौर पर लकड़ी का बना होता है। स्वरपेटी या कुडम एक गहरा पात्र लकड़ी को खोद कर बनाया जाता है जिसे काष्ठफलक से ढका जाता है। यह स्वरपेटी एक ग्रीवा में खुलती है जो दंड से मिलती है जिसका अंतिम स्वरूप एक पौराणिक आकृति यलि जैसा होता है (यड़ से साम्य नहीं)। स्वरपेटी पर मध्य में स्थित मेरु एक जटिल रचना है। मुख्य ईकाई लकड़ी का चौड़ा टुकड़ा है जिसमें तंत्रियों की ओर एक कटाव होता है जैसी रचना हमारी अन्य वीणाओं में भी होती है। इसकी ऊपरी सतह पर पीतल की एक पत्ती, जो प्राचीन एकतंत्री वीणा में लगी रचना का ही परंपरागत रूप प्रतीत होती है, से जुड़ा हुआ बल्कि उससे निकलता हुआ लकड़ी का बना एक मुड़ा हुआ अतिरिक्त भाग होता है जो खुद भी एक मेरु होता है। मुख्य मेरु से होकर धातु की चार तंत्रियां लगी होती हैं, जो राग बजाने के काम आती हैं। सारणि नाम की तीन तंत्रियां उपमेरु के ऊपर से निकलती हैं, इनका काम सुर तथा ताल देना

है। सभी तंत्रियां खूंटी के द्वारा मिलायी जाती हैं और फिर तार के टुकड़ों की महीन विशेष लच्छियों द्वारा मिलायी जाती हैं। राग की तंत्रियां पहली दो ऊंगलियों से नीचे की ओर खींची जाती हैं जबकि सारणि एक हाथ की छोटी ऊंगली से खींची जाती है। तंत्रियां एक हाथ से ठीक पीतल के पर्दे के ऊपर दबायी जाती हैं जो कि दंड पर मोम से चिपकी रहती हैं। दंड के नीचे इसके यलि सिरे की ओर एक और तुंबा या उसकी धातु की अनुकृति लगी होती है। वीणा को पकड़ने का आम तरीका क्षैतिज है। संगीतकार भूमि पर पैर मोड़ कर बैठते हैं। मुख्य तुंबा भूमि पर रखा रहता है तथा छोटा तुंबा गोद में रखा जाता है।

तथापि एक पीढ़ी पहले ऐसे वैणिक (वीणा-वादक) थे जो वीणा को लंबवत रखते थे। यह शैली आंध्र तथा मैसूर में कहीं कहीं देखने को मिलती है। इतने सूक्ष्म तरीके से बजाने वाली वीणा विभिन्न शैलियों में विकसित हुई है। एक मुख्य शैली तंजावुर शैली है जिसमें विलंबित लय और गमक पर विशेष बल दिया जाता है, आंध्र और मैसूर शैली में तार को छेड़ने और एक ही समय में एकाधिक तार को बजाने के वैविध्य पर बल दिया गया है। एक बहुत महत्वपूर्ण बात जो केवल वीणा के अतिरिक्त सभी वाद्यों पर लागू होती है वह यह है कि कर्नाटक संगीत में गायन में संगत के अतिरिक्त कोई विशेष वाद्य रचनाएं नहीं होती हैं। मद्रास के धनम, आंध्र के संगमेश्वर शास्त्री और मैसूर के शेषन्ना, तीन प्रसिद्ध वैणिक माने जाते थे। (45)



45. सरस्वती वीणा (कर्नाटक)

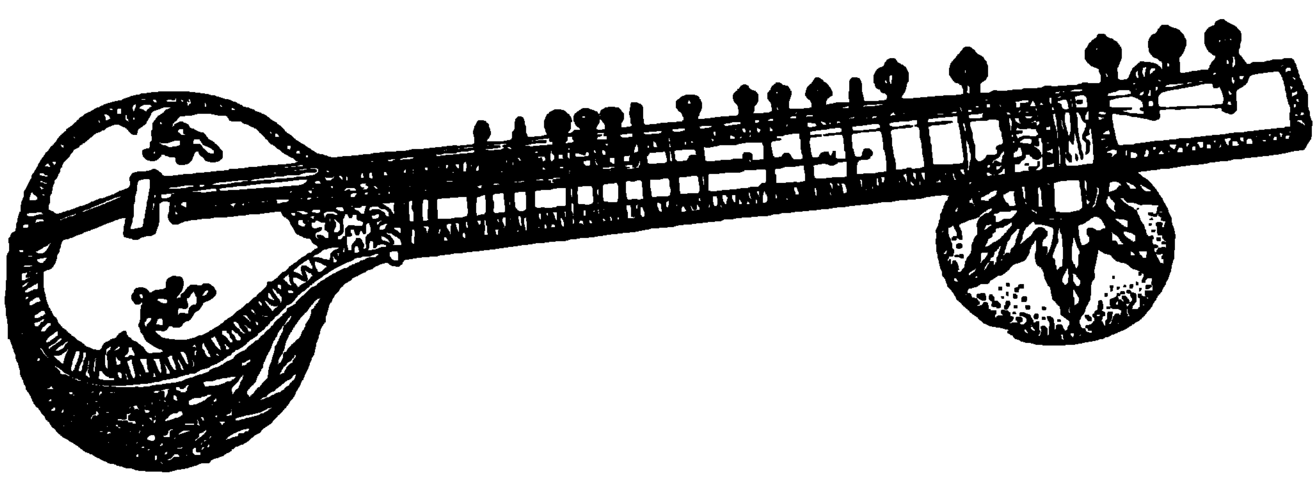
कर्नाटक संगीत में जो स्थान सरस्वती वीणा का है वही हिंदुस्तानी संगीत में सितार का है। सितार अपनी महत्ता के साथ साथ उतना ही या संभवतः उससे भी अधिक लोकप्रिय है। अनेक सितार-वादकों के सांस्कृतिक आदान-प्रदान ने अब भारत से भी बाहर बहुत सम्मान और प्रसिद्धि पायी है। आज यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण भारतीय वाद्य है चाहे इसके पूर्वज हमारे देश के सीमा प्रांतों या उनके पार से भी क्यों न आए हों। यह लंबी ग्रीवा की वीणा है और जैसाकि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, इस प्रकार की वीणा मध्य-पश्चिमी एशिया की कंदराओं के भित्ति चित्रों

में देखने को मिलती हैं। अभी हाल के वर्षों तक यह विश्वास था कि इस वाद्य के आविष्कारक 13वीं शताब्दी के कवि-संगीतकार अमीर खुसरो थे। यह पुष्टि करने योग्य तथ्य से अधिक लोक विश्वास प्रतीत होता है क्योंकि ज्ञात विश्वसनीय पुस्तकीय प्रमाण 18वीं शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं हैं। 18वीं शताब्दी के एक लेखक का इतना कहना पर्याप्त है कि निबद्ध तंबूरा ही सितार के नाम से-मशहूर हुआ है। एक और मत यह है कि यह वीणा प्राचीन त्रितंत्री से विकसित हुआ वाद्य है। त्रितंत्री अर्थात् तीन तंत्री का वाद्य। यह विचार नामों की समानता पर आधारित है। फारसी में सेह का अर्थ है तीन और तार का अर्थ है तंत्री अतः एक वीणा जिसमें तीन तंत्री हों अर्थात् सेह-तार कहलायी। कालांतर में जिसका नाम सितार में परिवर्तित हो गया। संस्कृत में त्रि-तंत्री का अर्थ एकसम है अर्थात त्रि का अर्थ तीन और तंत्री का अर्थ तार। नामों में चाहे जितनी समानता हो संरचनात्मक रूप से दोनों बिल्कुल ही अलग प्रकार के वाद्य हैं। सभी उपलब्ध संकेत यह संशय उत्पन्न करते हैं कि त्रितंत्री से वीणा विकसित हो ही नहीं सकती। अतः इससे अधिक समानता वाले वाद्य के रूप में कश्मीर का सितार अथवा सैतार है। यह सितार से छोटी वीणा है। इसका दंड तुंबेनुमा स्वरपेटी से निकलता है और तांत के कई पर्दों से युक्त होता है। इसमें एक संकरा अथवा चौड़ा मेरु होता है तथा सात तार होते हैं। इस प्रकार इस वीणा का आकार, तांत के सचल पर्दे और इसका यश इसको हमारी संगीत सभाओं के वाद्यों में प्रमुख बना देता है।

सितार को यह महत्व और सम्मान बहुत पहले नहीं मिला, अब से कोई सौ वर्ष पहले इसे सम्मानजनक भी नहीं समझा जाता था। सम्मान का स्थान रुद्र वीणा को प्राप्त था। वास्तव में वीणा के पारंपरिक उस्ताद अगर कभी सिखाते भी तो इसे अपनी पकड़ से बाहर किसी व्यक्ति को कभी नहीं सिखाते थे। वीणा घराने का विशेष अधिकार थी। अगर किसी 'बाहरी' आदमी ने उनके ज्ञान के दुर्ग का द्वार कभी खटखटाया भी तो उसे सितार जैसा कोई घटिया वाद्य सिखा दिया करते थे। सितार और उसकी शैली को प्रोत्साहन 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मिलने लगा। इसी समय में अमीर खां, बरकतुल्ला खां, बहादुर खां और गुलाम रज़ा जैसे महान उस्ताद हुए। ये असाधारण रूप से श्रेष्ठ वादक कलाकार थे और उनके मधुर संगीत ने सितार को सम्मानजनक स्थान तक उठाया और इसे व्यापक मान्यता दिलवायी। संगीत में पसंद बदल रही थी। मधुर वीणा और उसकी शांत शैली अपना असर खो रही थी, ठीक वैसे ही जैसे ध्रुपद गायकी और पखावज वादन ख्याल और तबला के लिए जगह छोड़ रहे थे। एक लयात्मक शैली विकसित हो रही थी जिसने सितार वादन को प्रोत्साहित किया। अनेक सितारियों में से मसित खां और गुलाम रज़ा का विशेष उल्लेख यहां किया जाना चाहिए क्योंकि वे वादन की इन शैलियों के जनक थे जो आज के वादन का मुख्य आधार थीं। मसित खां की रचनाएं मसित खानी बज के

रूप में विकसित हुयीं जो विलंबित लय में होती हैं और ताल से तकरार नहीं करतीं तथा बढ़त के लिए पर्याप्त गुंजाइश देती हैं। दूसरी ओर गुलाम रज़ा के नाम पर बनी रज़ा खानी बज द्रुत और चपल है। इस प्रकार सितार की अपनी भाषा और मुहावरे के साथ मुख्य वीणा के रूप में विकसित होने के दौरान वीणा के गंभीर अलाप का स्थान सुखबहार ने लिया जो सितार की ही एक प्रकार है।

उत्तर की अधिकांश वीणाओं की तरह सितार में निचली ओर लगभग गोल तुंबा होता है, जब तुंबा चपटा होता है तो वाद्य को कछुआ सितार कहा जाता है। तुंबा ग्रीवा के एक ओर चिपका होता है और इसका ऊपरी भाग काष्ठफलक से ढका होता है, जो चपटा या थोड़ा सा फूला हुआ होता है। ग्रीवा से एक लंबी दंड जुड़ी होती है जिसे दंडी कहा जाता है। इसके ऊपर पीतल के उत्तल पर्दे लगे होते हैं जिन्हें वांछित स्थान तक, खिसकाया जा सकता है। इस प्रकार के सचल पर्दों की व्यवस्था को चल थाट कहा जाता है। यह आजकल आम व्यवस्था है, पुराने नमूनों जैसे रुद्र वीणा



46. सितार

तथा सरस्वती वीणा में अचल पर्दे लगे होते हैं, जिसे अचल थाट कहा जाता है। अधिक कीमती किस्मों में दूर वाले सिरे पर एक और तुंबा दंड के नीचे लगा होता है। राग बजाने के लिए धातु के पांच तार मुख्य मेरु के ऊपर कसे होते हैं, इनके अतिरिक्त सुर के लिए दो तार होते हैं जिन्हें चिकारी कहा जाता है। इस वाद्य में मुख्य तंत्रियों के नीचे ग्यारह से सत्रह तक कितने ही तार अतिरिक्त गूंज के लिए लगे होते हैं जिन्हें तरब कहा जाता है (यह कम कीमत के सितारों में नहीं होते हैं।) मुख्य तंत्रियां और चिकारी विशेष रूप से चौड़े मुख्य मेरु के ऊपर से गुजरती हैं जबकि तरब अपेक्षाकृत छोटे और चपटे मेरु के ऊपर से गुजरती है जो मुख्य मेरु के नीचे ही स्थित होता है, जैसाकि भारत की अन्य वीणाओं में होता है। मेरु अस्थि, हिरन के सींग अथवा कठोर लकड़ी का बना होता है। तार तर्जनी ऊंगली में मिजराब पहन कर झंकृत किये जाते हैं और ऊंगलियों की गति हथेली के दूर-पास, ऊपर-नीचे,

आगे-पीछे होती है, दक्षिण भारतीय वीणा की तरह चिकारी का उपयोग आधार स्वर देने के लिए किया जाता है। सारणि की तरह इनका उपयोग ताल देने के लिए नहीं किया जाता है। (46)

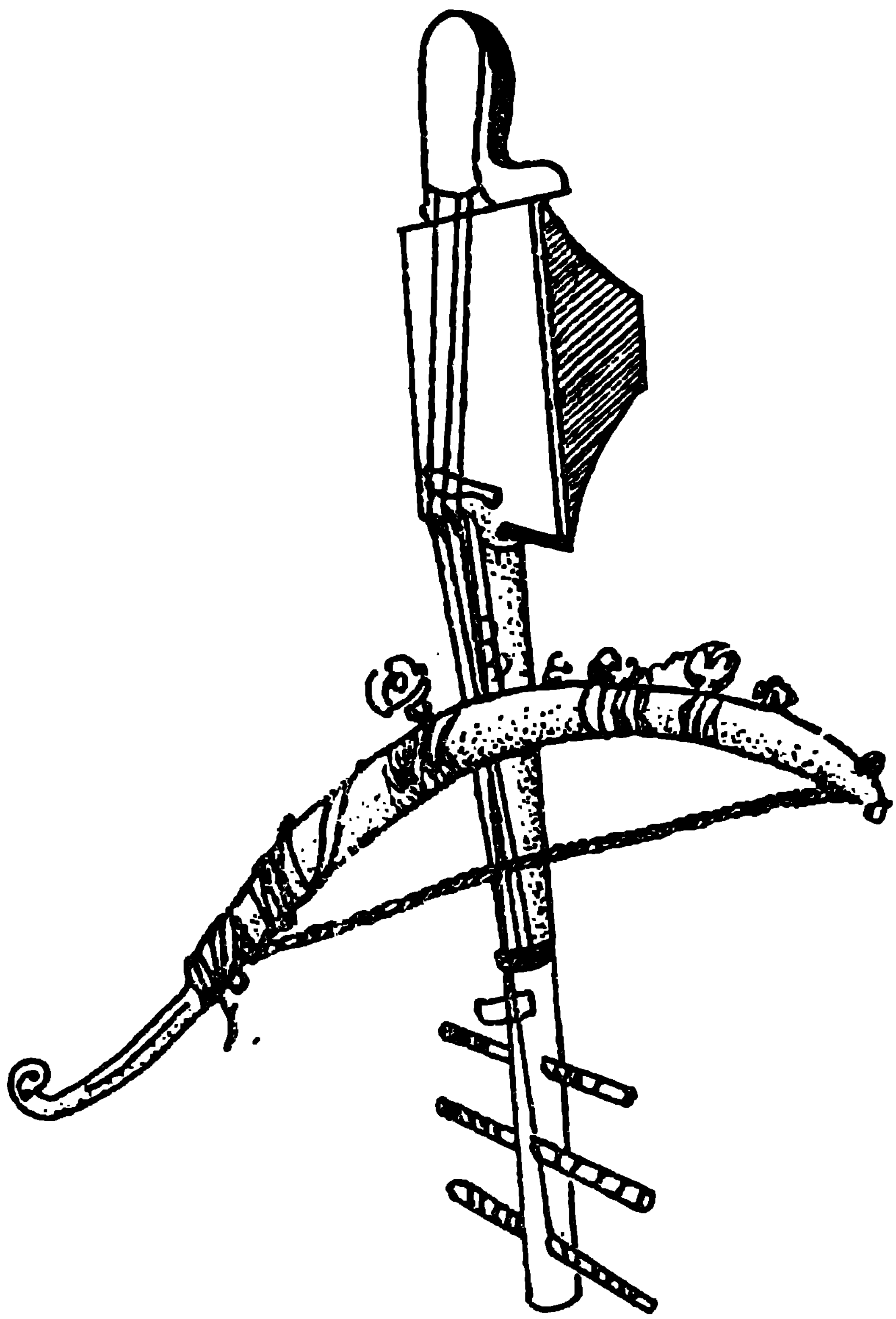
वाद्य पर ध्वनि निकालने के लिए गज का प्रयोग और गज वाले वाद्य दोनों ही अपनी उत्पत्ति के विषय में जटिल संरचनात्मक प्रश्न उठाते हैं। इस विषय में अनेक परिकल्पनाएं एवं विचार उत्पन्न हुए जो विचार विमर्श के पश्चात स्वीकारे और खारिज किये गए। विद्वानों की पसंद के तीन मुख्य सांस्कृतिक देश हैं : यूरोप, भारत और मध्य एशिया। पाश्चात्य विद्वानों ने अब तक इनमें से प्रथम और अंतिम पर ही अपना ध्यान केंद्रित रखा है। जहां तक भारत का प्रश्न है, उन्होंने इसे प्राथमिकता अवश्य दी है लेकिन भारत के विषय में सामग्री पर्याप्त एवं अद्यतन है। इस विषय पर सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों में से एक में, जो हाल ही में प्रकाशित हुयी है, गज वाले वाद्यों की सर्वप्रथम उत्पत्ति भारत में होने की संभावना पर विचार किया गया है। लेकिन शीघ्र ही लेखक इस विचार को इसलिए खारिज कर देते हैं कि भारत में गज वाले वाद्यों के दृश्य प्रमाण सबसे पहले 17वीं शताब्दी में प्राप्त हुए हैं जबकि पाश्चात्य देशों में ऐसे प्रमाण इससे भी सात सौ वर्ष पहले से उपलब्ध हैं। पुस्तक में हमारे देश में आदिवासियों में बहुतायत से पाए जाने वाले गज-वाद्यों का कोई उल्लेख नहीं है। केवल सरसरी तौर पर सुनने पर ही इस वर्ग के पचास से अधिक आदिवासी एवं लोक-वाद्य मिल जाते हैं यद्यपि उनमें कई बार कोई विशेष अंतर नहीं होता।

बहुत संभव है कि इस प्रकार के वाद्य 7वीं शताब्दी के प्राचीन भारतीय ग्रंथों में वर्णित हों और उनके बाद के ग्रंथों में भी गज वाले वाद्यों का उल्लेख एवं वर्णन अक्सर हुआ हो। लोक एवं आदिवासी संगीत में चर्चित वायलिन जैसे गज वाले वाद्य 10वीं शताब्दी के स्थापत्य में अंकित हुए हैं जिनके उदाहरण आंध्र में विजयवाड़ा तथा मैसूर के निकट अराकेश्वर के मंदिरों में देखने को मिलते हैं। सारिंदा किस्म के वाद्य बंगाल में विष्णुपुर में देखने को मिलते हैं और पश्चिमी भारत के कुछ मंदिरों में सारंगी के चित्र भी मिलते हैं।

इतने सारे प्रमाणों की उपस्थिति में निष्कर्ष बिल्कुल स्पष्ट है। भारत में गज वाले वाद्य कम से कम ग्यारह सौ वर्ष से ज्ञात हैं और बड़े पैमाने पर इसकी छानबीन करने की आवश्यकता है ताकि विश्व संगीत में उन्हें उनका स्थान दिलाया जा सके।

भारत का ऐसा कोई भाग नहीं है जहां वायलिन से मिलते-जुलते कोई न कोई वाद्य न हों। इस किस्म में स्वरपेटी प्रायः नारियल के खोल की अथवा लकड़ी की एक पेटी की बनी होती है, जो वादक के कंधे के पास रहती है और दंड नीचे भुजा की ओर बढ़ा होता है। गज हथेली से नीचे की ओर पकड़ा जाता है तथा तार ऊंगली के पोरों से पकड़े जाते हैं। उड़ीसा के बानाम तथा केनरा और मणिपुर के पेना इसी

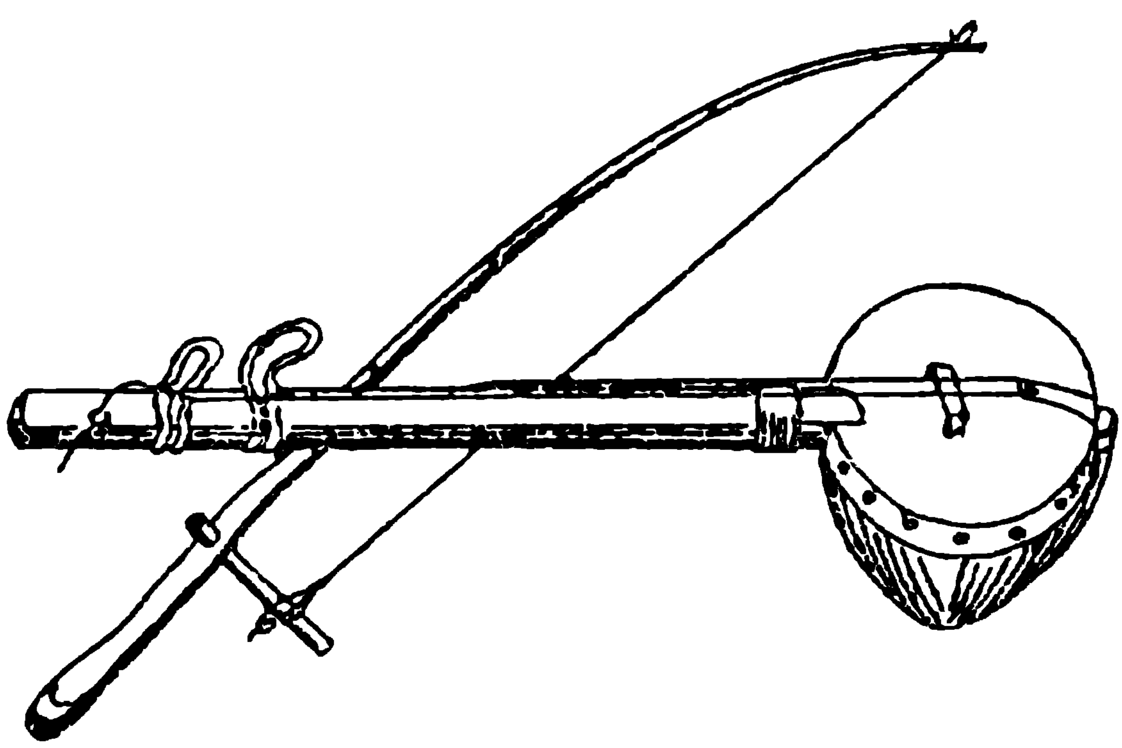
वर्ग के वाद्य हैं। पश्चिमी भारत का रावण हत्ता, आंध्र में प्रधानों की किंगरी और केरला के पल्लवों की वीणा कुंजु इसी प्रकार का वाद्य है। (47)



47. प्रधानों की किंगरी

इस वर्ग का विशिष्ट उदाहरण गौंडों से संबंधित प्रधानों की किंगरी है। एक समय गौंड मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और आंध्र की एक महत्वपूर्ण शासक जाति थी लेकिन अब यह एक पिछड़ी आदिवासी जाति है, प्रधान जिनके पुजारी, भाट और संगीतकार होते हैं। इनका कार्य गौंड परिवार की स्तुति गाना, धार्मिक अनुष्ठान, अंतिम संस्कार,

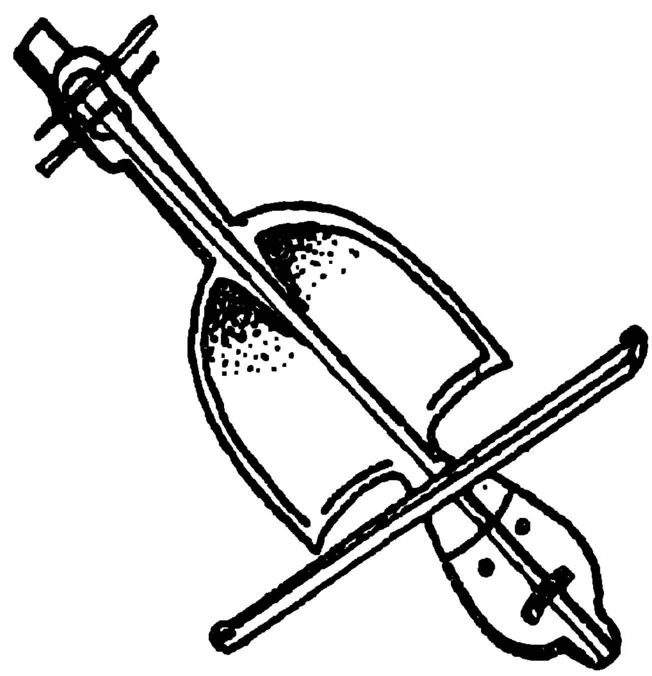
विवाह पर्व-उत्सवादि संपन्न कराना है। उनके द्वारा प्रयोग किये जाने वाले तीन महत्वपूर्ण वाद्य हैं : पेपरे (शइनाई तथा नागस्वरम् की तरह का दो पिपनी का वाद्य), ढोल तथा किंगरी। किंगरी उन्हें बहुत प्यारी होती है और वे इसके आविष्कार के संबंध में एक कहानी बताते हैं, एक राक्षस था जिसे बड़े छल कपट से भीमना (उनके आख्यान के अनुसार पांडवों में सबसे छोटा भाई) ने मारा। राक्षस की बेटी मंको घर की तोती के खाना मांगने पर रोने बैठ गयी, "तुम्हें क्या दूं ? मेरे पास तो कुछ है ही नहीं' फिर उसने चूल्हे से एक बिना जली लकड़ी निकाली और तोती ने उसे उसके पल्ले में रख कर कहा—इसकी एक किंगरी बनाओ और जब तुम उसे बजाओगी तो गौंड तुम्हें बछड़े, बैल, कपड़े या अनाज उपहार में देंगे'।" इस वाद्य में एक चौकोर स्वरपेटी होती है जो बकरी की खाल से ढकी रहती है। दंड इसमें लगा एक लंबा बांस होता है और इसमें तीन खूंटियां होती हैं। घोड़े के बालों से तीन तंत्रियां बनायी जाती हैं जिन पर गज चलायी जाती है। संगीतकार ठोड़ी के नीचे स्वरपेटी को रख कर किंगरी को पकड़ते हैं और खूंटियां उसके फैले हुए हाथ के पास रहती हैं, जैसाकि वायलिन में होता है। गज में पीतल के अनेक घुंघरू लगे होते हैं जो संगीत के साथ मधुर ताल देते हैं। (48)



48. बानाम

गुजरात और राजस्थान की रावण हत्ता अथवा रावण हस्त वीणा संभवतः प्राचीन काल में होने वाले गज-वाद्यों तथा वायलिन के बीच महत्वपूर्ण कड़ी है। इसका नाम चूंकि रावण से जुड़ा है इसलिए इतिहासकारों ने बिना अधिक सोच विचार अथवा संकोच के इसके आविष्कार का श्रेय रामायण के विद्वान खलनायक को दे दिया।

यह संभव है कि रावण हत्ता का सर्वप्रथम उल्लेख 7वीं शताब्दी में मिलता है यद्यपि यह रहस्य अनसुलझा ही है कि रावण का नाम इससे कैसे जुड़ा। आज यह पश्चिमी भारत का बहुत ही लोकप्रिय और आम वाद्य है। स्वरपेटी कटे हुए नारियल के खोल की होती है जिसका कटा मुख खाल से ढका रहता है इसमें दो तंत्रियां होती हैं, एक लोहे की तथा दूसरी घोड़े के बालों की, इनके अतिरिक्त एक तरब भी होती है। इसकी गज किंगरी की गज से बड़ी होती है लेकिन उसकी तरह इसमें भी घुंघरू लगे होते हैं। ऊपर वर्णित दोनों वाद्य उस वर्ग के हैं जिसमें पेना, बानाम और केनरा तथा पल्लव वीणा होती है। दूसरा वर्ग उन वाद्य यंत्रों का है जिनका पकड़ने का तरीका इसके विपरीत होता है : स्वरपेटी नीचे और खूंटियां ऊपर। इस प्रकार के वाद्य हैं : कमैचा, सारिंदा तथा सारणी।



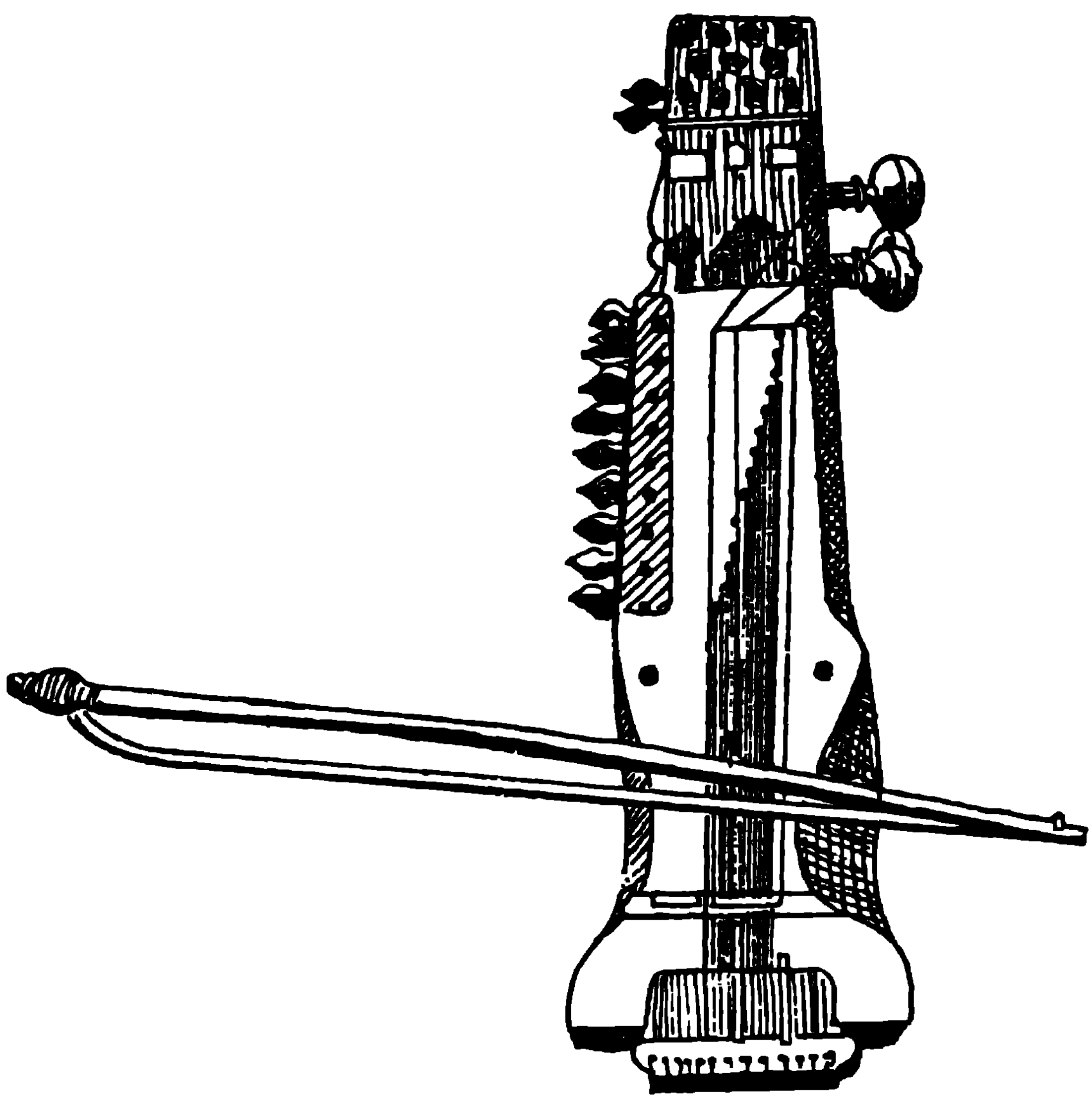
49. सारिंदा

भारतीय उपमहाद्वीप को पश्चिमी एशिया तथा अफ्रीका से भी जोड़ने के कारण कमैचा विशेष रूप से रोचक है। वास्तव में विश्व साहित्य में संभवतः रावण हत्ता को छोड़ कर यह सबसे प्राचीन वाद्य है। जहां तक जानकारी है, मिस्र और सिंध में भी यह 10वीं सदी से ज्ञात था। आम स्वीकृत बात यह है कि यह शब्द अरबी-फारसी के कमान से निकला है जिसका अर्थ है धनुष। यह बहस का विषय हो सकता है कि कमैचा सिंध से भारत होकर पश्चिम एशिया और मिस्र गया अथवा इसका उलटा हुआ ? प्राचीन कमंचा भी आकार, माप और वादन की शैली में हमारे कमैचा जैसा ही था। इन प्रश्नों के उत्तर हमारे गज वाले वाद्यों के इतिहास पर बेहतर रोशनी डाल सकेंगे। कमैचा हमारे देश में पायी जाने वाली एक गज वाली वीणा है, जो सिंध (पाकिस्तान) और राजस्थान की सीमा पर मोंगिया लोगों द्वारा बजायी जाती है। पूरा वाद्य लकड़ी के एक ही टुकड़े का बना होता है। गोल स्वरपेटी ही ग्रीवा और दंड के रूप में बढ़ी होती है। स्वरपेटी चमड़े से तथा ऊपरी भाग लकड़ी से ढका होता है। इसमें चार तंत्रियां होती हैं एक मुख्य तथा अन्य सहायक जो एक पतले मेरु पर से गुजरती हैं।

सारिंदा उत्तरी पर्वतीय प्रदेश तथा बिहार की कुछ आदिवासी जातियों में पाया जाता है। इस वाद्य की सबसे विशेष बात इसका आकार है। यह स्मरण ही होगा कि अब तक वर्णित सभी गज वाली वीणाओं में स्वरपेटी गोल तथा खोखली होती

है। लेकिन सारिंदा में वाद्य में इतना गहरा कटाव होता है कि यह दो भागों में बंटी दिखायी देती है। निचला भाग मोती के आकार का होता है और इसी पर खाल मढ़ी रहती है। ऊपरी भाग अपेक्षाकृत अधिक बड़ा होता है और एक प्रकार से इसका आकार 'पंख' जैसा होता है जो दंडी के साथ साथ ही चलता है। इसके ऊपर ऐंठे हुए धागे, तांत अथवा धातु की बनी चार तंत्रियां होती हैं। (49)

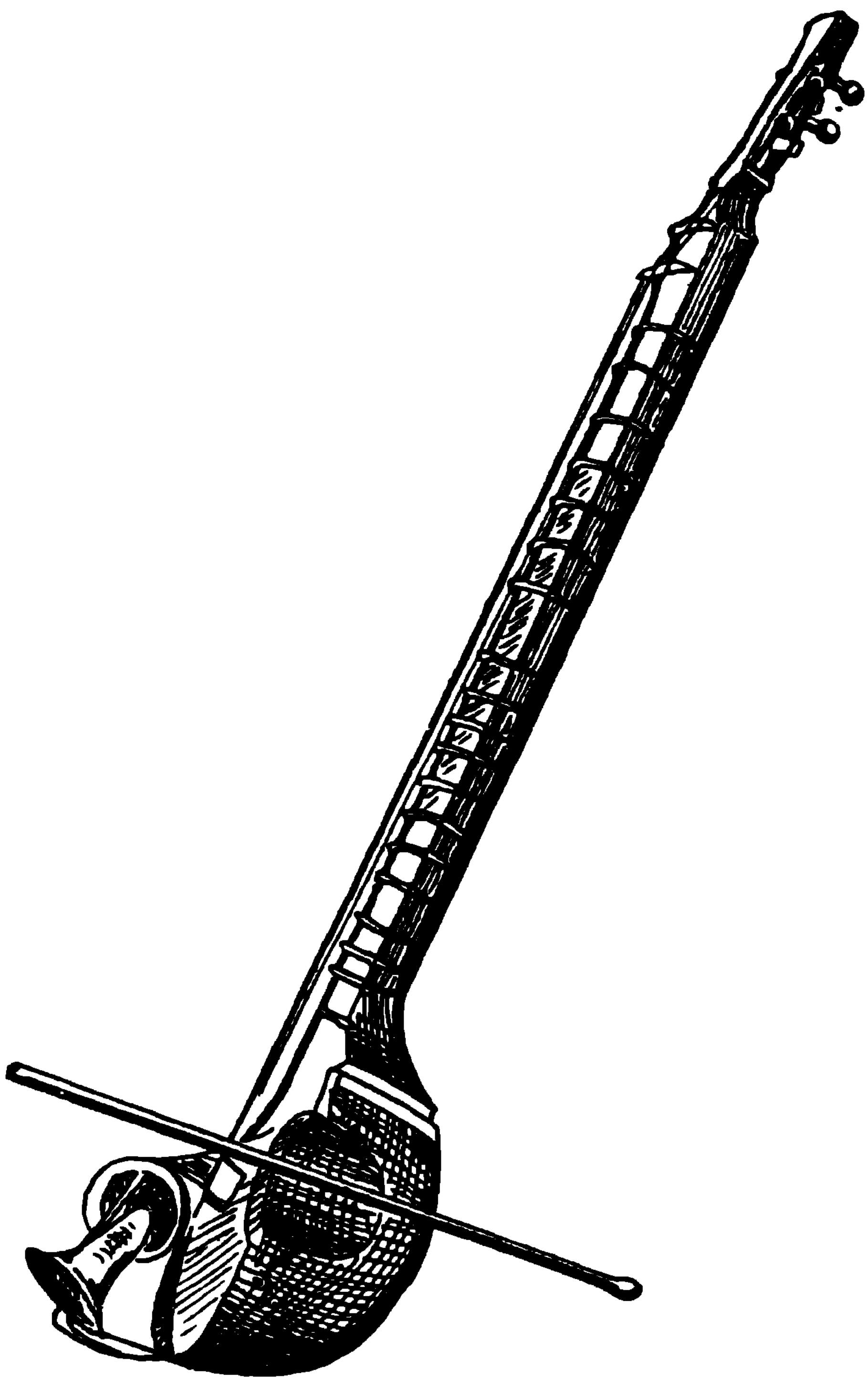
अंत में हम सबसे महत्वपूर्ण गज वाले भारतीय वाद्य, सारंगी पर आते हैं। संगीत सभाओं में प्रयुक्त वाद्य लकड़ी के एक ही टुकड़े का बना होता है और लगभग साठ



50. सारंगी

सेंटीमीटर लंबा होता है। खोखला वाद्य चौड़ा होता है लेकिन नीचे की ओर संकरा होता है और यह चपटे दंड के रूप में बढ़ जाता है। निचला भाग खाल से मढ़ा होता है और स्वरपेटी की तरह कार्य करता है जबकि ऊपरी भाग लकड़ी से ढका हुआ रहता है। मुख्य तंत्रियां गिनती में चार होती हैं और आमतौर पर तांत की बनी होती हैं जैसाकि उत्तर भारत के वाद्य यंत्रों की विशेषता है इसमें तरब भी होती है। इसमें सबसे अधिक ध्यान देने योग्य ऊंगलियों की तरकीब है जो किसी वाद्य में नहीं होती। ऊंगलियों के पोरों के स्थान पर नखों का प्रयोग किया जाता है। लोक-वाद्य भी संगीत

सभाओं में प्रयुक्त वाद्य जैसा होता है और इसकी संरचना भी लगभग एक जैसी होती है इसकी एक अत्यंत विशाल किस्म है जिसे मंदर बहार कहते हैं जिसकी आवाज बहुत ऊंची होती है और कभी कभी यह शास्त्रीय संगीत सभाओं में भी देखने को मिलता है। (50)



51. तार शहनाई : यह इसराज है, जिसमें ग्रामोफोन की ध्वनिपेटी तथा ध्वनिवर्द्धक यंत्र लगे हुए हैं।

किसी अन्य तत-वाद्य की अपेक्षा सारंगी एक साथ लोक-वाद्य और शास्त्रीय वीणा भी है। यह फिर हमारे संगीत की अबूझ पहेली को खोल देता है। यह एक भारतीय वाद्य है जो हमारी कुछ लोक परंपराओं में गहरे तक रचा बसा है और हिंदुस्तानी

शास्त्रीय संगीत में भी जिसकी महत्वपूर्ण जगह है, लेकिन कर्नाटक संगीत में उसकी पूर्णतः उपेक्षा हुयी है। ऐसा नहीं है कि दक्षिण में सारंगी एकदम है ही नहीं। आश्चर्य है कि इसके प्रयोग के इक्के-दुक्के उदाहरण भी ओडुवारों में उपलब्ध हैं जहां वे संगीतकार हैं, जो प्राचीन तमिल भक्तिगीत–तेवरम गाते थे। इस प्रकार के अपवादों को छोड़कर दक्षिण के बहुत रूढ़िवादी हिस्सों ने सारंगी को नहीं अपनाया जबकि दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत ने बाहर के वाद्य वायलिन को अपनाया है। उत्तर भारत में भी सारंगी को-नर्तकियों की संगत के वाद्य के रूप में अधिक जाना जाता था और सामाजिक तौर पर सारंगिये (सारंगी-वादक कलाकार) संगीतकारों में सबसे नीचे तबके के माने जाते थे। आज तस्वीर् बिल्कुल उलट है, उच्च संगीत सभाओं में सारंगी की बहुत मांग है, इस के वादकों ने राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्मान प्राप्त किया है।

कई प्रकार की लोक सारंगी हैं जो बहुत कुछ राजस्थान और निकटवर्ती क्षेत्रों तक सीमित हैं यद्यपि ऊंगली संचालन की विशेष तरकीब यूगोस्लाविया तथा यूनान जैसे दूर देशों तक प्रचलित है। हमारे देश में मिलने वाली लोक सारंगी की किस्में हैं गुजरातन सारंगी, जोगी सारंगी, सिंधी सारंगी और धनी सारंगी, जो देखने में आमतौर पर एक सी होती हैं लेकिन इनमें सूक्ष्म अंतर होते हैं। इन्हीं लोक-वाद्यों से संगीत सभाओं में प्रयुक्त किस्में विकसित हुयी हैं।

सारंगी और सितार के जिज्ञासु मेल से बना वाद्य है दिलरुबा (बंगाल का इसराज)। इसकी स्वरपेटी सारंगी की तरह होती है। इसे भी उसी तरह पकड़ा और बजाया जाता है, लेकिन सितार की तरह दंडी लंबी होती है और उस पर पर्दे लगे होते हैं। यद्यपि इसकी आवाज सारंगी से अधिक मधुर होती है फिर भी शास्त्रीय संगीत सभाओं में इसका प्रयोग कभी कभी होता है और चूंकि यह लोक-वाद्य नहीं है इसलिए दिलरुबा का प्रयोग सुगम संगीत में होता है। इसराज के रूप में यह बंगाली संगीतकारों का पसंदीदा वाद्य है। (51)

इस प्रकार गज वाले वाद्य भौगोलिक ही नहीं सांस्कृतिक रूप से सारे देश में मिलते हैं। इनकी लोकप्रियता के बावजूद इनकी व्युत्पत्ति तथा स्थान परिवर्तन के विषय में अनेक समस्याओं का समाधान करना पड़ता है। यह भारत में ही नहीं बल्कि विश्वभर में पाये जाते हैं। एक विद्वान ने लगभग सात दशक पूर्व कहा था–"गज वाले वाद्यों की व्युत्पत्ति एक अनबूझ पहेली है।" हम इसे अभी तक नहीं सुलझा पाए हैं।

संदर्भ-ग्रंथ सूची

चुनीलाल 'शेष', **अष्टछाप के वाद्य यंत्र** (अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मंडल)

दाते, एच. वी., **ज्ञानी कला**–मराठी

डे, सी. आर., **म्यूजिक एंड म्यूजिकल इंस्ट्रूमेंट्स आफ सदर्न इंडिया एंड दि डेकन** (बी. आर. पब्लिकेशंस,)

देव, बी. सी., **भारतीय वाद्य** (स्टेट बोर्ड फार लिटरेचर एंड कल्चर, बंबई–मराठी)

म्यूजिकल इंस्ट्रूमेंट्स आफ इंडिया : देअर हिस्ट्री एंड एवोल्यूशन (फिरमा के एल एम)

कृष्णास्वामी, एस., **इंडियन म्यूजिकल इंस्ट्रूमेंट्स,** (पब्लिकेशन डिवीजन, गवर्नमेंट आफ इंडिया)

मिश्रा, एल. एम., **भारतीय संगीत वाद्य** (भारतीय ज्ञानपीठ)

पुरंदर, एम. ए., **भारतीय वाद्यगलु** (कर्नाटक यूनि.) –कन्नड़

राजा राव, एल., **संगीत वाद्यगलु** (बंगलौर यूनि.)–कन्नड़

संवामूर्ति, पी., **दि फ्लूट** (इंडियन म्यूजिकल पब्लिकेशन हाउस)

लय वाद्य (हैंडीक्राफ्ट बोर्ड)

श्रुति वाद्य (हैंडीक्राफ्ट बोर्ड)

संगीत नाटक अकादमी, **इंडियन फोक म्यूजिक इंस्ट्रूमेंट्स** (केटालॉग)

तारालेकर, जी. एच., **भारतीय वाद्यन्का इतिहास** (महाराष्ट्र यूनि. बुक प्रोडक्शन बोर्ड)–मराठी

तारालेकर, जी. एच. एंड तारालेकर, एम., **म्यूजिकल इंस्ट्रूमेंट्स इन स्कल्पचर** (पुणे विद्यार्थी गृह)

अनुक्रमणिका

दी सैण्ट्रल इलैक्ट्रिक प्रेस, नरायणा, फेस-I, नई दिल्ली -28 द्वारा मुद्रित